गद्यांजलि

सम्पादक

डा० बी० डी० शास्त्री, वेद राही

पृथ्वी नाथ पुष्प (संयोजक)

शारदा पुस्तकालय

(संजीवनी ...)

क्रमांक 305

जे एण्ड के अकादमी आफ आर्टस, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़

जम्मू ।

शो. द्रा पु. कालय
(संभावना शो. द. केन्द्र)
क्रमांक...... 305

गद्यांजलि

गद्यांजलि

सम्पादक

डा० बी० डी० शास्त्री, वेद राही

पृथ्वी नाथ पुष्प (संयोजक)

प्रकाशक

कल्चरल अकादमी

श्रीनगर।

१ ९ ६ १

विजय प्रिंटिंग प्रेस, मोती बाजार जम्मू में बलवन्त के० सहगल द्वारा मुद्रित ।

आमुख

जम्मू-कश्मीर अकादमी की ओर से स्थापित हिन्दी-समिति के द्वारा नियुक्त एक सम्पादक मण्डल ने इस 'गद्यांजलि' का संकलन-सम्पादन किया है। इस में रियासत के वर्तमान हिन्दी-लेखकों की गद्य रचनाओं में से १७ रचनाएं चुन कर दी गई हैं, जिन में आठ कहानियां हैं, एक एकांकी, दो संस्मरण तथा छे निबन्ध।

ये रचनाएं अपने गुण-दोषों सहित अविकल रूप में ही यहां दी गई हैं। इन के अनुशीलन से स्थानीय हिन्दी-साधना के स्तर की हल्की सी झलक अवश्यक मिल सकेगी।

जिन लेखकों की रचनाएं यहां दी गई हैं उन में स्थायी रूप से इस क्षेत्र में साधना करने वालों की संख्या अधिक नहीं। फिर भी इन्हीं फुटकर साहित्य-प्रयत्नों के द्वारा रियासत में हिन्दी-साहित्य-साधना की एक कोमल परम्परा आज तक चलती आ रही है। इसी परम्परा ने यहां नये लिखने वालों को प्रोत्साहित किया है।

देश में हिन्दी भाषा के व्यवहार का महत्व बढ़ जाने के कारण रियासत में पनपने वाली इस हिन्दी-साधना-परम्परा को भी बढ़ावा मिलना चाहिए। इसी दृष्टि से जम्मू-कश्मीर अकादमी ने हिन्दी की गद्यात्मक तथा पद्यात्मक रचनाओं के दो अलग २ संकलन प्रकाशित करने का यह निर्णय किया है।

हमें यह ज्ञात है कि प्रस्तुत संकलन सम्भवतः भाषा के अपेक्षित स्तर पर पूर्णतया पूरा न उतर सके, फिर भी इन रचनाओं में निहित भावों की उदात्त सम्पत्ति उस कमी को अवश्य किसी हद तक पूरा कर सकेगी।

रामनाथ शास्त्री
सदस्य
केन्द्रीय-समिति
जम्मू कश्मीर अकादमी
श्रीनगर।

हवेली बेगम, (कर्ण नगर)
जम्मू।
नवम्बर १९६१

सम्पादकीय

जम्मू कश्मीर एक अहिन्दी-प्रदेश है। कश्मीरी, डोगरी पंजाबी तथा बोधी (लद्दाखी) यहां की प्रमुख जन-भाषाएं हैं। इन में से केवल डोगरी और पंजाबी के साथ हिन्दी का बहनापा है, शेष दो हिन्दी से पर्याप्त दूरी पर जा पड़ी हैं। यह भी सत्य है कि जम्मू, कश्मीर तथा लद्दाख—राज्य की इन तीनों इकाइयों में पढ़े-लिखे लोग, हिन्दी से अधिक, उर्दू की जानकारी रखते हैं। परन्तु फिर भी कश्मीर की घाटी तथा जम्मू के मैदानी इलाके में संस्कृत वाङ्मय की एक गौरवशाली परम्परा सदियों से चली आ रही है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में जब हिन्दी अपने मौलिक साहित्य की शक्ति द्वारा उत्तर भारत के जन-ज्ञन में व्यापने लगी थी, तब उस की गूंज इस अहिन्दी प्रदेश में भी सुनाई दी। आशा है प्रस्तुत संकलन में आप इस गूंज की गूंज अवश्य सुन पायेंगे।

संपादन करते समय हमारे सम्मुख अवश्य इस बात की अपेक्षा रही कि सब से पहले यहां किस ने, अथवा किस २ ने लिखा परन्तु प्रत्येक को प्रतिनिधित्व देने से निश्चय ही संकलन का स्तर गिर जाता और हम समय का तगादा पूरा न कर पाते। यद्यपि हम अब भी ऐसा साहित्यिक स्तर स्थापित नहीं कर पाए कि जिस पर गर्व कर सकें, फिर भी इस संकलन से कश्मीर में हिन्दी लेखन की गतिविधि का एक सजीव चित्र मिल ही जाएगा।

रचना-क्रम भी घटिया-बढ़िया को नहीं, वरन् सुविधा के लिए लेखक की वय को दृष्टि में रख कर किया गया है।

इस प्रारम्भिक संकलन के पश्चात् वार्षिक संकलन प्रकाशित करने की योजना बनाई गई है, और राज्य में वर्तमान हिन्दी-लेखन की विकास-गति देखते हुए हमें पूर्ण आशा है कि प्रति वर्ष आप इस संकलन का स्तर निरंतर ऊंचा होता हुआ पाएंगे।

—सम्पादक

अनुक्रम

शीर्षक	(कहानियां)	पृष्ठ
वंशी और चिट्ठी	सत्यवती मल्लिक	१
मालिन	धर्म चन्द्र 'प्रशांत'	४
घास का माया जाल	मोहन कृष्ण दर	६
गोपी	दीप कौल	१५
पानी और पत्थर	वेद राही	२३
यक्ष और टोपी	हरि कृष्ण कौल	३२
डोलमा	जवाहर लाल कौल	४०
नन्ही	रतन लाल 'शांत'	४७
	(एकांकी)	
नयनाहुति	गोपी नाम कौशिक	६१
	(संस्मरण)	
पंत जी से एक भेंट	शक्ति शर्मा	८६
'डेज़र्ट बस' में	घनश्याम सेठी	९४
	(निबन्ध)	
इतिहासकार कल्हण	रमाकांत भारद्वाज	१०५
कश्मीर के शैव दर्शन का महत्व	विष्णु दत्त शास्त्री	११०
डुग्गर प्रदेश का कलात्मक जीवन	रामनाथ शास्त्री	११८
आलोचक चौहान जी	पृथ्वी नाथ पुष्प	१२७
शांति का मूल 'कर्म'	शकुंतला सेठ	१४२
कश्मीर के संत कवि	चमन लाल सपरू	१४७

वंशी और चिट्ठी

—सत्यवती मल्लिक

अखिल विश्व के हृदय को मानो विदीर्ण करता हुआ, वंशी का आकुल स्वर जाने कहां से फूट पड़ता है। तब मेरे सारे काम-काज, कलम-दवात, बात-चीत, विचार-चिन्तन सभी एक साथ थम जाते हैं।

नीरव उदास दोपहरी के समय, या रात्रि के दूसरे प्रहर में, प्रायः पिछवाड़े होटल के रसोई घर के आंगन से, कभी सामने के झुरमुट में से छिपे, वह विकल स्वर दूर २ तक फैलता चला जाता है।

पहाड़ों में, निर्जन वन-प्रान्तर में, ऐसे व्यथित सुर प्रायः सुने जाते हैं जो मानो उनके एकाकीपन को चीर इधर-उधर टकरा कर उपत्यकाओं में गूंज उठते हैं।

उस अदृश्य विकल सुर के स्रोत को बहुत चेष्टा करने पर भी देख नहीं सकी।

× × × ×

"किसी की चिट्ठी खोल कर पढ़ना पाप है।" पर नया डाकिया जो भी हिन्दी के पते की चिट्ठी हो, भूल से यहीं उलट जाता है। 'पता' भी तो पहाड़ी पगडण्डी की भान्ति ऊंचा-नीचा ऐसा है, तभी तो शायद समतल निवासी डाकिया नहीं बूझ सका। वह यह भी तो नहीं जानता कि ऐसे हस्ताक्षरों से कौतूहल कितना बढ़ जाता है।

टूटे-फूटे अक्षरों में इधर-उधर की कई बातों के बाद लिखा है, "तुम्हारी घरवाली काम नहीं करती कहती है मेरा घर वाला आयेगा तो करूंगी।"

कुछ बातें आगे की जोड़-जाड़ कर पढ़ी जा सकती हैं, पर बस! चिट्ठी मैंने वहीं रख दी है, आंखों के आगे दूर दिगंचल में फैले ऊंचे-नीचे छलछल, हरे-भरे, पीले धान के खेतों की निराई-कटाई में श्रम से क्लान्त थकिन युवती साकार घूम रही है। सांझ हो जाती है, रात बीत जाती है, दिन निकल आता है, पर उस के नेत्र नहीं थकते, पलकें नहीं झुकती, वास्तव में किसी काम में उस का जी नहीं लगता।

चिट्ठी पर इधर का ही पूरा पता न हो सो नहीं, प्रेषक का नाम, धाम, गांव का पता भी नहीं कि लौटा सकूं।

× × × ×

किन्तु वंशी का इस चिट्ठी से क्या सम्बन्ध है? मेरे मन ने यह कैसी विचित्र कड़ी जोड़ ली है?

हां! फटे चिथड़ों में इधर-उधर बेबसी से घूमती हुई उद्भ्रान्त सूरतों को देखती हूं, जो प्रायः अनायास ही घाटियों में गूंज उठते हैं।

जितनी बेकली वंशी के स्वर में हैं उस से कहीं अधिक इन पंक्तियों में है—

"वह काम नहीं करती! किसी काम में उस का जी नहीं लगता—घर वाला आयेगा तो करेगी।"

जान पड़ता है लिखने वाला किसी का बड़ा भाई है, आगे लिखता है, इस में तुम्हारा ही दोष है! न आए, न चिट्ठी ही भेजी, संभालो!"

× × × ×

पर कोई नहीं जानता, चिट्ठी उसे नहीं मिली, वह उन्मुक्त,

लोकलाज-हीन सन्देश, निर्दिष्ट पात्र के हृदय तक न पहुँच, किसी पढ़े-लिखे उद्धत के साहित्य-भंडार में ही आ कर बंद पड़ा है।

वंशी बजाते २ उसे घर जाने का मानो मोह नहीं रहा, सोचता होगा, "दो पंक्तियां ही लिखवा कर डाल देती"—इतना भी न कर सकी, तो वह क्यों जाए? कौन सा उस के बस में है, पराधीन है, हाथ-पैर बंधे हैं! वह राह-राह घूमेगा, झुरमुटों में छिप छिप कर ही हृदय के उन्माद को वंशी द्वारा व्यक्त करेगा।

× × × ×

पर हाय रे! कौन जा कर उसे कहे, चिट्ठी आई है, आई है सत्य ही आई है, और वास्तव में लिखा है "वह काम नहीं करेगी जब तक वह नहीं आयेगा नहीं करेगी।"

इन वंशी बजाने वालों में कौन भाग्य शाली है, जिस की पर्वत वासिनी अधीर नेत्रों से उस की प्रतीक्षा कर रही है। कौन वह बंदी विरही यक्ष है? अटपटी अलकें, क्लान्त-भ्रान्त मुद्रा, धान के खेतों में ठिठक कर एक टक ताकते हुए प्राण जिस के लिये बिकल हैं! समझ में नहीं आता किन कम्पित हाथों में चिट्ठी सौंपी जाए और कहां सन्देश या उत्तर दिया जाए।

(नई दिल्ली १९४७)

["वैशाख की रात" से साभार]

मालिन

—धर्मचन्द्र 'प्रशांत'

उस के स्वर में मादकता थी, सजीवता थी और थी सहृदयता ! वह कोई दो वर्ष से लगातार मेरे घर में फूल देने आ रही थी। वह मालिन थी। दिल्ली से तबदील हो कर हम आ गए, उस के दस दिन उपरान्त उस से भेंट हुई थी। उस की खोज करने मैं नहीं गया, वह थी मेरी पत्नी की 'डिस्कवरी'।

बात यह बनी कि हमें मकान बनियों के मुहल्ले में मिला। 'हर मैजेस्टी' को आस-पड़ोस में कोई साथिन नहीं मिली। एक दिन उस मालिन को साथ ले कर वह आई तो मैंने कहा 'यह कौन है' ?

'मेरी नयी सहेली !'

'वाह ! सहेली भी खूब मिली, मालिन।'

'इस का नाम ?'

'प्यारी।' मेरी पत्नी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

प्यारी चली गई।

मैंने कहा— 'शास्त्रकारों ने कहा है, पुरुषों में नाई अधिक चालाक होता है, पक्षिओं में कौआ, चौपायों में गीदड़ और स्त्रियों में मालिन। इस लिए इस का साथ ठीक नहीं रहेगा जी !'

उन्होंने हंसते हंसते कहा—तुम्हारे शास्त्र कुछ कहें। इसे मैंने

परख लिया है। बहुत ठीक रहेगी।'

उस दिन से वह प्रति दिन हमारे घर में आने लगी। मैंने देखा वे दोनों बड़ी जल्दी घुल-मिल गयीं।

प्यारी का रंग सांवला था, परन्तु छबीली बड़ी थी। हाथ में फूलों की टोकरी लिए वह धकाधक आ जाती थी। उसे देखते ही वे कहतीं—'आ री! प्यारी।' उन्होंने मुझे कई बार उसे पुकारने के लिए कहा, परन्तु मैंने उस का नाम ले कर कभी नहीं बुलाया।

श्रीमती जी ने भगवान् की मूर्ति रखी थी, उसी पर प्यारी के पुष्पों की वर्षा होती थी। फूलों का एक गजरा और रंग-विरंगे कुछ फूल दे जाती थी प्रति दिन। कभी २ वह मस्ती में आती तो एक आध गाना भी गा जाती। सचमुच उस के स्वर में आकर्षण था। जब कभी श्रीमती जी के तेंवर चढ़ जाते तो उसे प्यारी ही ठीक किया करती थी।

इस प्रकार आगरे में हंसी—खुशी में हमारे दिन बीत रहे थे। प्यारी कितना समय हमारे पास बिता देती हमें प्रतीत ही नहीं होता था। एक दम मेरे ऊपर बज्र प्रहार हुआ। धर्म पत्नी बीमार पड़ गई। बहुतेरा इलाज किया, परन्तु उन की दशा बिल्कुल नहीं सुधरी। भगवान् की इच्छा सहेली के साथ सहेली भी बीमार पड़ गई। श्रीमती जी उसे बहुतेरा याद करती थी, परन्तु उन्हें देखने आ नहीं सकी।

एक दिन वह भी आया जब वे मुझे रोता और बिलखता छोड़ सदा के लिए बिछुड़ कर चली गई। मेरे जीवन की ज्योति बुझ गई। संसार ही मेरे लिए सूना था, न किसी से बोलता न मिलता। अपना जीवन ही मुझे बोझल मालूम पड़ने लगा था।

परन्तु वह मालिन भी न आई, मैंने सोचा चलो अच्छा हुआ। न ही आये तो ठीक रहेगा।

पर एक दिन वह आ ही निकली। उसी तेज़ी से और उसी मधुरता से उस ने पुकारा—'बहिन जी!'

परन्तु वे संसार में कहां थी ? आंखों में आंसू लिये मैं ही सामने खड़ा था। वह रो पड़ी और फूट-फूट कर रोई और रोती रही, जब तक उस के गले ने जवाब नहीं दे दिया।

वह उठी ! दीवार की ओर देखते हुए बोली—'यहां भगवान् की मूर्ति थी ?'

'हां ! परन्तु मैंने वह भी उन्हीं के साथ जला दी है। कहते २ मैं फिर रो पड़ा।

वह धीरे धीरे आगे बढ़ी, उसने श्रीमती जी की तसवीर उठा कर भगवान् की मूर्ति के स्थान पर रख दी, और जितने फूल वह पहले दिया करती थी, उस ने उन के चित्र पर चढ़ा दिए।

उस के उपरान्त वह नियमित रूप से आने लगी। परन्तु उस की चुलबुलाहट और संगीत पता नहीं कहां चले गये।

कितने ही मास के उपरान्त हृदय कुछ हलका हुआ, मैंने कहा—'कुछ संगीत सुनाओ।' प्यारी रो पड़ी। कहने लगी—'मेरे संगीत की पारखी मेरी रानी थी, वे चली गईं हैं। यह कह वह फिर रो पड़ी। उस के उपरान्त उस ने कहा—'बाबू जी ! यह सूना-पन कब तक रहेगा, शादी नहीं करोगे ?

'नहीं ! अब इस जन्म तो नहीं, अगले जन्म में अवश्य होगी और उन्हीं के साथ होगी।'

उस दिन वह चली गई। परन्तु कभी २ वह पूछ ही बैठती—'कहीं बात तो नहीं ठहरी है ?'

मैं उसे यही कहता—'इस जन्म में शादी नहीं होगी री !'

एक वर्ष इसी प्रकार चला गया। सहसा गोपाल चला आया। वह मेरा बाल्य बन्धु था। बड़ा हंसमुख, बड़ा चुलबुला और नर खर। पहले दिन तो उस का प्यारी से साक्षातकार नहीं हुआ, परन्तु दूसरे दिन जब प्यारी आई तो वह घर पर ही था। प्यारी उसी

प्रकार अन्दर गई उस ने चित्र पर पुष्प चढ़ाए और फिर तिर्छी-सी चितवन से उस ने गोपाल को देखा। वह तो आगे ही आंखे गड़ाए उसी की ओर देख रहा था। परन्तु जाते २ उस ने फूलों का एक गजरा मेज़ पर फैंक दिया, पहले उस ने ऐसा कभी नहीं किया था। मुझे कुछ आश्चर्य सा लगा।

गोपाग ने पूछा—'यह कौन है जी।'

'मालिन !' मैंने कहा।

'वह तो देख ही लिया है, परन्तु इसे कुछ अधिकार अधिक प्राप्त हो चुके हैं, तभी तो कमरे में विशंक घूम फिर लेती है।'

मैंने कहा—'तुम्हारी भाभी की डिस्कवरी है, उन्हीं के दिए हुए अधिकार हैं इस के पास।'

'ठीक है'—हंसते २ गोपाल ने गजरा अपने गले में डाल दिया, और कहा—'बुरी नहीं है। परन्तु बात चीत इस से कुछ करूं, बुरा तो न मानोगे ?'

'क्या बकते हो ?' मैंने उस के मुंह पर हल्का-सा तमाचा मारते हुए कहा।

'क्या करना चाहते हो इस के साथ ?' मैं पूछ बैठा।

गोपाल कहने लगा—'भाभी की डिस्कवरी को देखना है।'

परन्तु बड़ी अच्छी औरत है यह मैंने कहा।

गोपाल ने सिर्फ 'अच्छा' कह कर प्रसंग समाप्त कर दिया।

दूसरे दिन यह घटना मैं भूल ही गया, परन्तु गोपाल को स्मरण था। प्यारी के आने के कुछ समय पूर्व उस ने कहा—

'कुछ खिलाओगे नहीं !'

'क्या खाना चाहते हो ?

'चौक में एक व्यक्ति चाट बेच रहा है, उसे बुला लाओ। बाज़ार में खड़े हो कर तो कुछ खाया नहीं जाएगा।'

'ज़रूर खाओगे !'

'इच्छा तो यही है !'

'अच्छा' कह कर मैं चला गया। चाटपाट वाले को लाने में कोई आध घण्टा लग गया। घर पहुँचा। आगे वहां कुछ विचित्र ही अवस्था थी।

गोपाल की कमीज़ फट चुकी थी। उस के मुंह पर नाखुन लगे थे, रुधिर वह रहा था। मानो किसी ने मारा था।

मैंने यह देखते ही पूछा—'यह क्या हुआ गोपाल, प्यारी तो नहीं आई थी ?'

गोपाल चुप रहा। मैं पुनः गली की ओर चला गया। वहां मैंने प्यारी को बहुत ढूंडा उस के उपरान्त शहर की गली २ छान मारी, परन्तु प्यारी कहीं दिखाई नहीं दी। दूसरे दिन उसकी प्रतीक्षा में बैठा रहा। पर वह फिर कभी भी मेरे घर में नहीं आई। उस घटना को हुए काफी समय बीत गया है, परन्तु प्यारी की स्मृति आज भी हृदय में ताज़ा है।

घास का माया-जाल

—मोहन कृष्ण दर

कश्मीर की विशाल उपत्यकाओं की पीली-पीली सुखी हुई घास पतझड़ में टांगों से लिपट जाती है, आश्लेष-बन्धनों की तरह ठण्डी और निर्जीव सी। नग्न धूमिल आकाश के नीचे पीली धरती पर दूर दूर तक फैली हुई शुष्क घास के पवन में झूमने की सांय सांय शरीर में एक विचित्र प्रकार की कंपकंपी-सी उत्पन्न कर दती है। एक अपार समुद्र की तरह तृणाच्छादित वसुन्धरा हरे आवरण के अभाव तथा फूस की प्राण-हीनता के कारण मानव-हृदय में शून्यता तथा एकाकीपन के भाव भर देती है।

श्यामल घास से ढके हुए विशाल खेत में एक भारतीय सैनिक कन्धों से उसके घनेपन को चीर कर और आँख बचा कर कुछ सोच रहा था। मेघ के एक विशाल खण्ड के पीछे छिपा हुआ दिन मणि पूर्व दिशा का सुवर्ण-रंजन कर रहा था। सैनिक ने उदय होते सूर्य को देखा और तब घास में अपने आप को छिपाने का अधिकाधिक प्रयत्न करने लगा। चारों ओर खड़ी ऊंची घास उसको तथा उसकी विचित्र वेशभूषा को छिपाने में पूर्ण रूप से सफल हो रही थी।

रायफल के सहारे खड़े होकर, तिरछी नजर से धूमिल आकाश को ताकते हुए, जाने कैसी गुप्त और निर्मम दृष्टि से सैनिक

ने फिर दूर तक फैली हुई शुष्क घास को देखा। मानों शिथिल आँखों के द्वारा ही उसने अपने दुःखी जीवन को उस उपत्यका पर फैला दिया—निजी दीनता और याचना के साथ।

उसकी श्वास-गति तीव्र हो चली थी। हाथों से बार-बार लम्बी घास को अपनी राह से हटाने का प्रयत्न करते हुए वह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। पीतल की टोपी को पेटी से कस कर बाँध रखने के कारण उसके सिर पर लम्बे और बिखरे हुए बाल ओस से भीगे हुए उसके माथे और मलिन मुख पर लटक जाते और वह उन्हें बार-बार हटाने का निष्फल प्रयत्न करता। उसके मुंह पर शिथिलता और कठिन परिश्रम ने अपने चिन्ह अंकित कर दिये थे। निद्रा के अभाव के कारण आंखें सिकुड़कर कुछ लाल हो चली थीं। संग्राम में जुटे रहने से तीन दिन से उस्तरा न हुआ था, मुँह पर बढ़ी हुई दाढ़ी ने तो उसे भद्दा बना डाला था। श्रम से शिथिल और भूख से व्याकुल उसका शरीर निर्जीव-सा था। केवल डूबी हुई आंखों में जीवन का क्षीण आभास मिलता था। उसके मुंह में उसकी जीभ सूखे पत्ते की तरह रह-रहकर सिहर उठती, मुंह में तो दो दिन से एक दाना भी न गया था।

उसने अपना ओस से भीगा हुआ सिर ऊंचा कर लिया। उपत्यका में कहीं-कहीं हल्की-सी हरियाली पर्वत-माला को चूमती दिखाई देती थी और कहीं अन्तरिक्ष से मिलती हुई। बर बस ही झटके के साथ उसने अपना मुंह गिरा लिया और अपने दाहिने हाथ की रेखाओं को इस प्रकार देखने लगा जैसे उन रेखाओं में से निहित था उनका जीवन रहस्य—जीवन-लक्ष्य! सैनिक के शरीर में कंप कंपी-सी हुई। तदनन्तर ही उसने एकाएक अपने दाहिने हाथ से रायफल को थाम लिया। वह भी बिलकुल ठण्डी पड़ गई थी। दिल में आया एक ही क्षण में अन्तरिक्ष के पार हो सके, कलना-दमय संगीत गाते हुए पक्षियों की तरह। लेकिन तभी उसे अपनी अवस्था तथा कल्पना के सीमाहीन प्रदेश के अन्तर का ज्ञान हुआ।

उसके मन में जो व्याकुलता उमड़ रही थी, घायल पक्षी की भान्ति उसे सह सकने में वह असमर्थ था। उसे यह मालूम न था पर्वत के अंचल में गोला-बारूद के फटने का घननाद हो रहा था। वह उसके शत्रुओं की ओर आकर्षित हो रहा था या अपने अन्य साथियों की ओर। उसे यह कैसे मालूम होता कि जिस लड़ाई में उसके पाँव में चोट आ गई थी, उसे बन्द करने की घोषणा कर दी गई थी या नहीं। वह तो अपने को एक दम खो बैठा था, उसे ज्ञान था तो इस चीज का कि वह संसार में अकेला है, बिल्कुल निस्सहाय।

घास से उसे सख्त नफरत होने लगी थी, किन्तु वह इस बात को कैसे भुला सकता था कि उस ऊंची घास ने ही उसके प्राणों की रक्षा की थी। उसे अपने घर की याद आई, उसकी झोपड़ी के सामने लहलहाते हुए धान के खेतों की, पीपल की छाया में निद्रा-देवी की आनन्ददायिनी गोद में अपने को भूलकर वह अपने स्वप्न-साम्राज्य की नींव डालता। हरे खेतों में घूमने पर उसे जीवन की रंगीनियों का स्वाद मिलता। लेकिन इस पीली, ठण्डी, और निर्जीव घास के स्पर्श-मात्र से उसकी सारी संज्ञा सिहर उठती थी।

उसी समय अपनी देर की रुकी सांस को छोड़ तथा झटके के साथ अपना मुंह गिराकर वह अपने हाथों की हथेलियों को फिर देखने लगा। भारी पग उठा और सैनिक आगे को डगमगाने लगा।

रात आई तिमिर का आवरण लेकर, और वह उसी घास में अपनी टांगों से लिपट कर सो रहा। उसकी खाकी वर्दी ओस से भीग जाने के कारण गोंद की तरह उसके शरीर से चिपक गई थी। उषा ने प्राची पर लालिमा फेर दी। दिवाकर की पहली रश्मियों ने हिमाच्छादित पर्वत-माला का सुवर्ण-रंजन कर डाला था। धान के परिपूर्ण खेतों के पीलेपन पर कहीं-कहीं किरणों की छाप पड़ रही थी। प्रशान्त झेलम का कछार शून्य हृदय खोले पड़ा था। नीचे शीतल बालू में कराकुल चिड़ियों के झुण्ड मधुर कलरव कर रहे थे। उसे स्मरण आया कि यदि वह कुछ और समय के लिए वहीं पड़ा रहता तो निश्चय ही वह घास उस की मृत्यु-शय्या बन जाती।

घास अब इतनी ऊंची न थी कि वह खड़े हो कर, नजरें बचाता हुआ उसके बीच में से चल सके। सैनिक ने तब पेट के बल रेंगना आरम्भ किया। सर्प की भान्ति वह घास उसके आकुल कण्ठ और उसकी शिथिल टांगों से लिपट जाती और वह अपनी रायफल से उस को चीरता हुआ—रेंगकर आगे चला जाता।

कुछ समय पश्चात् सैनिक उस खेत के छोर पर आ निकला और दूसरे खेत में घुस गया। वे खुले मैदान, जिन्हें उसने कल कहीं दूर से देख लिया था और जहां से वह अपनी भूली हुई राह को ढूंढ़ने का अनुमान कर सकता था, अभी कहीं दिखाई न देते थे। अब वह उस झोंपड़ी के समीप आ गया, जिसे उसने कहीं दूर से देख लिया था। बरबस ही वह रुक गया, जैसे देर से वह किसी विपरीत दिशा की ओर जा रहा था। इस लिये उससे हट जाने के लिए बहुत कुछ विचार करने लगा। कुछ क्षण मौन और स्थिर रहने के पश्चात् उसे कुटी के द्वार पर एक व्यक्ति दृष्टिगोचर हुआ। अनजान पुरुष की वर्दी से स्पष्ट होता था कि वह शत्रु-पक्ष का सिपाही है। एकदम सैनिक ने अपनी रायफल को संभाला और पहली अवस्था में लेट कर घूर-घूर कर देखने लगा। तभी दो और व्यक्ति तृणाच्छादित झोंपड़ी के भीतर से निकल कर द्वार पर आ खड़े हुए।

घास की उस धुन्धली-सी दीवार में से उन सिपाहियों को ताकते हुए सैनिक के मन में एक साथ भय और उद्वेग के दो स्रोत वह चले और वह अपनी टांगों के साथ चिपट गया मौन, संज्ञाहीन। माथे से प्रस्वेद फूट पड़ा और टांगें अकड़ गईं। वह जहां पर था, और जिस प्रकार था, वह फिर उसी प्रकार बैठा रहा। उस समय उसके चारों ओर एक विचित्र कोलाहल-सा उमड़ रहा था और वह समुद्र की एक छोटी-सी तरंग की तरह बार-बार छोर से टकराने और लौट आने का प्रयत्न सा करता जान पड़ता था। निश्चय ही वह शान्त नहीं था, निस्सहाय था वह।

वह इसी अवस्था में एक घण्टे तक आतुर सांसें लेता रहा और जब वे तीनों व्यक्ति सिगरेट जला कर कुटी के अन्दर चले गये, तब उसने फिर रेंगना आरम्भ किया। कुटी से कुछ ही दूर निकल

जाने पर उन तीन सिपाहियों में से एक सिपाही फिर झोंपड़ी से बाहिर आया और घास के घने खेत में किसी जीव के चलने से बने हुए मार्ग को देख कर वह कुछ सतर्क हुआ। जल्दी ही रायफल संभालकर वह भी उसी मार्ग पर पीछे-पीछे चल पड़ा। सैनिक को कहीं भी किसी पगडंडी या मनुष्य-मात्र का चिन्ह न दिखाई पड़ा। कभी-कभी उसके पक्ष के या शत्रु-दल के मृत सैनिकों की घास से कुछ-कुछ ढकी लाशों पर उसकी नज़र पड़ती। उसके सीने में हल्का-सा दर्द होने लगता।

यह देखकर वह अपने को अच्छा न पाता। जल्दी ही वह उनसे अपना सिर हटा लेता। बार-बार पवन से मरसराती हुई घास उसके माथे पर फूटे हुए प्रस्वेद को हटा देती, उसके कर्कश कानों में कुछ कह देती। क्षुधा ने उदर की पीड़ा का रूप धारण कर लिया था। सैनिक के पास अब कुछ बिस्कुट और आधी बोतल पानी रह गया था। उसने कुछ बिस्कुटों और पानी के कुछ घूंटों से अपनी उदराग्नि को शान्त किया और फिर वह लेट गया नीलाकाश की ओर नज़रें लगाकर। उसकी पलकें खुल कर बार-बार निमीलित हो जातीं और आंखों के खुल जाने के साथ ही उसका स्वप्न-साम्राज्य वास्तविकता के खुरदरेपन में लुप्त हो जाता। कुछ समय तक उसकी चेतना जागती रही। पर्वतमाला पर फैली हुई लालिमा हिलती रही और तब वह तृणों की शय्या पर निद्रा-विलीन हो गया।

सैनिक ने जब अंगड़ाई ली तब दिनकर प्राची में उदय हो रहा था। प्रकाश की प्रथम रश्मि अपना सवर्णांचल फैलाए हुए प्रातः-कालीन पवन से अठखेलियां कर रही थी और तारे पीले पड़ कर एक के बाद एक अपना अस्तित्व मिटाते चले जा रहे थे। प्रकृति पतझड़ के शीतल, उल्लासमय समीर-सागर में निमग्न हो रही थी। सैनिक को सूर्य के प्रकाश में असाधारण-सी गर्मी का अनुभव हुआ। वह वैसी उष्णता न थी, जिसके मज़े वह अपने गांव में लिया करता था। उदयास्त की सूर्य-रश्मि में, लम्बी-लम्बी घास में, गगन-चुम्बी उन शैलों में उसे कहीं जीवन का आभास न मिलता था। उसने अपने दोनों हाथों से घास को ज़ोर से थाम कर देखा, निर्जीव,

ओस से भीगी हुई थी वह। दो दिन से लगातार उस घास में, राह ढूंढ़ निकालने के कारण उसकी आंखें भी शिथिल पड़ गई थी। कभी-कभी किसी सड़े हुए पौधे से आई हुई दुर्गन्ध उसके मस्तिष्क को विकृत कर देती।

सैनिक ने नीचे से दृष्टि उठाकर ऊपर आकाश की ओर देखा और अपनी उस गहरी दृष्टि के साथ उधर ही मुंह उठाये रहा और तब ही मानों झटका-सा खाकर अपनी अवस्था के विपरीत बन कर कुछ देर सोचने लगा। उसके अन्तस् में एक भयंकर आग दहक रही थी और शिकारी से भयभीत पक्षी की तरह वह अपने को छिपाने का अधिकाधिक प्रयत्न करने लगा। ओस से भीगी हुई घास के ठंडे चुम्बन के कारण उसके सारे शरीर में विद्युत् की रेखाएं-सी दौड़ गईं। चारों ओर उसे छाया-पुरुषों का आभास दिखाई देने लगा।

बरबस ही वह चिल्लाया, लड़खड़ाया। नीचे गिर कर उसने उन्मत्त-सा होकर भागने का प्रयत्न किया, लेकिन हाय! वह सूखी घास उसकी टांगों का बन्धन बनकर उसे अच्छी तरह जकड़ चुकी थी।

उन तीनों सिपाहियों ने, जो उसका पीछा कर रहे थे, उसकी जेबों की तलाशी ली। उसके अंग-अंग को टटोला। तब वे रायफल संभाल कर सैनिक से कुछ दूर हट कर खड़े हो गये।

मुक्ताकाश में अन्धकार धीरे-धीरे फैल रहा था। अभी सूर्य की अस्ताकालीन लालिमा आकाश के उच्च प्रदेश में स्थित बादलों में गुलाबी आभा दे रही थी। दूर-दूर झोंपड़ियों में दिये जल उठे। काली रेखाओं-सी भयभीत कराकुल पक्षियों की पंक्तियां करर-करर करती हुई संध्या की उस शान्त चित्रपटी के अनुराग पर कालिमा फेरने लगी। लेकिन पर्वतमाला से आती हुई स्वच्छ पवन से सिरसिराती हुई घास के नीचे पड़ा हुआ सैनिक तब भी सोता ही रहा।

(सर्व श्री आत्माराम एण्ड सन्ज़)

[दिल्ली द्वारा प्रकाशित—केसर के फूल से साभार]

गोपी

—दीपक कौल

गोपी का नया घर कुछ बड़ा नहीं था। लेकिन आज के ज़माने को देखते हुए वह परिवार कुछ बड़ा ही था। सास, ससुर, ससुर के भाई और उन का चचेरा भाई मनोहर। घर तो यों अच्छा था और घर के लोग भी बुरे नहीं थे। बुरे होते तब भी क्या होता? गोपी तो यही समझती थी कि ससुराल जैसा भी हो, निर्वाह करना ही होगा। और इसी ख्याल से गोपी ने नए घर में कदम रखते ही अपनी तबीयत को नए वातावरण में ढालना शुरू किया।

विवाह से पहले गोपी ने अपने मन में अपने भविष्य की सुन्दर रूप-रेखा बनाई थी, और यह स्वाभाविक ही था कि वह उस घर में आते ही उस नकशे की धुंधली सी रेखाओं को खोजना शुरू करती। वह उस नकशे की सारी लकीरें अपने नए घर में तो न पा सकी, मगर फिर भी उसे खेद न हुआ। ज़िन्दगी अभी बाकी थी। कुछ देर के बाद वह अपना घर उसी ढांचे पर बना सकती है, इस बात का उसे पूर्ण विश्वास था।

कुछ समय बीत जाने पर गोपी के पेरों तले दुलहिन-वाली सेज हटा ली गई और यह देख कर उस ने भी अपना घूंघट छोटा कर लिया।

विवाह हो जाने पर लेन देन और दहेज की बातें होती ही

रहती हैं और नई २ ब्याही लड़कियों को प्रायः इन बातों की उलझन होती है, मगर गोपी थी कि इन बातों की ज़रा भर भी परवाह न करती थी। उस ने आज तक इन छोटी २ बातों की तरफ ध्यान ही न दिया था और न इन बातों पर वह सोचना ही चाहती थी। उस का ख्याल था कि जब तक उसे मोहन के प्यार का आसरा है उसे इन छोटी २ बातों की परवाह नहीं करनी चाहिए। कोई कुछ भी क्यों न कहे। अरे ये पुराने ज़माने के लोग ऐसी बातें करते ही हैं और करते ही रहेंगे। इन लोगों ने दुनिया ही कितनी देखी है, शहर तक तो कभी गए नहीं और कुछ पढ़े-लिखे भी तो नहीं जो समझाया जाए। इस लिये इन की बातों को सुनी-अनसुनी करना ही अच्छा है। सास-ससुर की शिकायतों या तानों को मोहन के कानों तक पहुँचाना भी गोपी को अच्छा नहीं लगता था. कुछ इस कारण भी कि कहीं मोहन भी उस की इन बातों का मज़ाक न उड़ाए।

लेकिन हुआ यह कि विवाह के कुछ दिन बाद मोहन ही ने गोपी से शिकायत की कि दहेज कम मिला है और यह बात उसके मां-बाप को बहुत खटक रही है। गोपी इस बात पर हंसी और बोली, लड़के वालों का पेट भरा ही कब है? यह बातें तो होती ही रहती हैं। तुम देखो तुम्हारा दहेज़—गोपी पूरी मिली है कि नहीं। यदि मिली है तो सब ठीक है।

गोपी का ख्याल था कि मोहन उस की बात को सुन कर मचल जाएगा और उसे ज़ोर से अपने सीने से लगा कर कहेगा—'गोपी तुम कितनी अच्छी हो!' लेकिन मोहन ने रूखी-सी आवाज में कहा, मज़ाक छोड़ो गोपी, मुझे यह सब बातें पसन्द नहीं। तुम अपने मैके वालों को कहला भेजो कि बात इस तरह से है। देखो मैं यह नहीं चाहता कि लोग-बाग यह इल्ज़ाम मेरे सिर थोपें कि मैंने विवाह अपनी पसन्द का किया और वह भी गलत किस्म के घर की लड़की से। इस पर गोपी से कोई जवाब न बन पड़ा, केवल उसके दिल की धड़कन एक क्षण के लिये रुक-सी गई।

गोपी सिन्ध नदी थी। इस घटना से एक क्षण के लिए उस में ठहराव तो आ गया, लेकिन तुरन्त ही फिर बहने लगी और उसी

भान्ति बहने लगी।

कुछ समय और बीत गया।

गोपी मोहन को हर समय पास ही बैठे देखना चाहती थी। अपनी ही बात करते देखना चाहती थी। जभी तो घर का काम करते वक्त भी छिप कर दो घड़ी के लिए अपने कमरे में मोहन को देखने के लिये झांक आती और मोहन को गोपी का यह बचपना एक आंख न भाता। इस पर गोपी को कभी अफसोस भी होता लेकिन फिर भी नाराज़ी न होती। बात वास्तव में यह थी कि मोहन को अपने घर की रीतियों का बहुत ख्याल था। फिर यह कैसे सम्भव था कि घर में सब बड़े बैठे हों और वह कमरे में अपनी पत्नी के साथ हंस खेल रहा हो और इसी लिये मोहन को गोपी की हरकतें और गोपी की बातें कभी कभी सरा-सर बेशर्मी जान पड़ती। मोहन गोपी को केवल बीबी के रूप में देखना चाहता था, ऐसी बीबी जिस में उस के पूर्वजों की सी लाज-लज्जा हो। गोपी मोहन को एक पति के अतिरिक्त अपने प्रीतम के रूप में भी देखना चाहती थी। ऐसा प्रीतम जो कांटों के चाबुक से मारे तो यों लगे कि फूल बरस रहे हैं, जो गरज के बोले पर माथे पर बल न आने दे, जो माता पिता को दिल में जगह दे कर गोपी के लिए एक कोना छोड़ दे और गोपी घर का काम करते २ थक जाए तो उस का प्रीतम केवल कहने के लिए कह दे, 'आओ मैं तुम्हारा हाथ बटाऊं!' गोपी चाहती थी कि मोहन की पलकें भारी हों तो रोज उसी की गोद में रहे—इसी लिये कभी २ गोपी का मन करता कि मोहन को उस के घर से भगा के और दूर कहीं शहर में जा बसें ताकि उस की दुनिया उसी तक सीमित रह कर उसी में समा जाए। गोपी को मालूम था कि उसे मोहन पर अधिकार है क्योंकि उस ने समाज के बंधे-टिके सिद्धान्तों की परवा न करते हुए एक प्रकार का स्वयंवर ही तो रचाया था।

गोपी को भली प्रकार याद था वह दिन जब एक सुहावनी शाम को प्रभा के साथ रोज़ की तरह अपने आंगन के कुएं पर बैठ कर अपनी सहेली से हिलमिल कर बातें कर रही थी, और बातों २ में प्रभा ने एक रिश्ते के भाई मोहन की बात भी छेड़ दी। प्रभा ने

मोहन का नक्शा कुछ इस ढंग से खींचा कि चंचल गोपी के निर्मल हृदय पर पहली बार एक छाया सी पड़ी जो मिटाए न बनी, वरन् गुदगुदाती रही। उस दिन के बाद गोपी मोहन के बारे में प्रभा के मुंह से कुछ भी सुनने के लिये आतुर हो उठती।

गोपी के हृदय पर मोहन की अनदेखी सूरत का सुन्दर प्रतिबिम्ब तो था ही, मगर अब वह इस प्रतिबिम्ब को साकार रूप में भी देखना चाहती थी और प्रभा ने उस का प्रबन्ध भी किया।

प्रभा ने मोहन को किसी बहाने बिजबिहारा बुला लिया। गोपी ने मोहन को देखा तो स्वप्न सचमुच ही साकार हो उठा और उस की आंखें झुक गईं। मोहन ने गोपी को देख लिया और उस की आंखें चुंधिया गई। दिल खो बैठा वह। इस मुलाकात के बाद गोपी और मोहन एक दूसरे को बहुत चाहने लगे, कुछ खत आए, कुछ खत भेजे और निभाने के वादे हुए। इतने में बात फैल गई और फैलते २ गोपी के माता पिता तक भी पहुँच गई।

रीति के अनुसार गोपी और मोहन के प्यार में रुकावटें आनी तो चाहिये थीं, पर ऐसा हुआ नहीं। गोपी चंचल तो थी, उसके हठ से उस के मां बाप परिचित ही थे और फिर उस की पसन्द देखने में बुरी भी नहीं थी। खाते पीते घराने का अच्छा भला कमाऊ लड़का मिला, अब इस के अतिरिक्त और क्या चाहिए। फिर मधु सूदन मास्टर का दिल ऐसी बातों के लिये वैसे ही विशाल था। वह गोपी को जीवन में सुखी देखना चाहता था। इस लिए बात सुगमता से तय हुई और मोहन के घर वालों ने भी इस रिश्ते को स्वीकार किया। गोपी की इच्छाएं पूरी हुईं और मोहन के वादे भी सच निकले और इस तरह सावन के एक डूबते दिन बिजबिहारा के खेतों की एक रेंगती हुई लहर अनन्तनाग की ओर चल दी थी।

मनोहर का तबादिला अनन्तनाग हुआ तो घर की फिज़ा कुछ खुशगवार सी हुई। यद्यपि वह मोहन का सगा भाई नहीं था फिर भी वह सगे भाईयों से ज्यादा लगते थे। आयु के लिहाज़ से भी वह एक दूसरे के समीप ही थे, पढ़े लिखे भी बराबर के थे। कुछ महीने

पहले जब मोहन का विवाह हुआ था तो मनोहर कुछ दिनों के लिये घर तो आया था पर शीघ्र ही वापिस चला गया था। इसी लिये गोपी भाभी को जानने के पश्चात् भी पहचानता नहीं था। धीरे २ मनोहर गोपी को पहचान गया पर साथ ही यह भी भांप गया कि मोहन और गोपी में किसी बात पर ठन चुकी है। लेकिन यह सोच कर कि मियां बीवी में बरसात की भान्ति ऐसे २ झगड़ों की फुआर होती ही रहती है, उस ने अपनी शादी की बात में रुचि प्रकट की जो उस समय सारे घर की बात थी।

कुछ समय और भी बीत गया तो मनोहर ने देखा कि गोपी और मोहन में रोज़ ही किसी न किसी बात पर चख २ लगी रहती है। जब झगड़ों की यह कड़ी कहीं समाप्त न होती दिखाई दी तो मनोहर को बीच बचाव करने के लिये इन दोनों के मामलों में टांग अड़ानी ही पड़ी। मोहन यह भी समझ रहा था कि गोपी के ज़ीवन में एक अद्भुत सा शून्य उत्पन्न हो चुका है जिस को मोहन पूर्ण नहीं ही कर सकता, क्योंकि उस शून्य को केवल पति बन कर एक विशेष दूरी पर रह कर उसको पूर्ण नहीं किया जा सकता वरन् उसमें समा कर ही उस को पूर्ण किया जा सकता है। पर मनोहर यह सब दूर ही रह कर सोच रहा था।

मनोहर की आदत थी कि जहां कहीं बैठ जाता अपने साथ एक अनोखा समां भी बांध लेता। कुछ नहीं तो ऐसा हंगामा कर बैठता कि जी हल्का कर देता। गोपी को बहुत दिनों से ऐसे ही वातावरण की ज़रूरत महसूस हो रही थी जिस में वह अपने सारे गम और पछताव भुला कर अपने दिल के बोझ को तनिक हल्का कर सकती। वह अपने दिल के दर्द को किसी पर प्रकट तो नहीं कर सकती थी क्योंकि यह वह दर्द था जो उस ने स्वयं ही अपनी ज़िन्दगी की आरज़ुओं को मसल २ कर पाया था इसी लिए किसी से कहने योग्य भी नहीं था।

मनोहर के आने के पश्चात् गोपी खुद हैरान थी कि उस के जीवन में कौनसी कमी थी जो अब पूरी हो गई है। मनोहर तो अब

भी उसके लिये देवर ही था जिसके पास बैठने में उसको एक दिव्य प्रसन्नता का अनुभव होता, एक ऐसी खुशी जो सीधे मुंह उसके चेहरे पर आ कर नहीं खेलती बल्कि किसी चोर दरवाजे से उसकी आत्मा में प्रवेश करके कभी-कभी उसे गुदगुदा जाती।

मोहन समझ रहा था कि मनोहर के आने से वातावरण कुछ ठीक हो गया है और गोपी का दिमाग भी ठिकाने आ गया है! वह पहले से बहुत सुलझ गई और लगता भी यों था कि अब उनकी ज़िन्दगी बड़ी हमवार है। लेकिन वास्तव में गोपी और मोहन में अब भी एक गहरी खाई थी। वह गोपी का मनोहर के लिये प्यार ही था जो इस खाई को ढक रहा था और यह दोनों इस बात को न समझ सकते थे और न देख ही सकते थे। केवल एक मनोहर था जो सारी बात समझता था कि गोपी मोहन के हाथों से फिसल कर उसके दामन में आ गिरी है। गोपी की आंखों की चमक उसे यह बातें बतलाया करती थी, लेकिन फिर भी वह डर रहा था कि कहीं यह सब भ्रम ही न हो; क्योंकि उसके समाज में इस प्रकार का कोई उदाहरण नहीं था। इधर गोपी को महसूस हो रहा था कि वह मनोहर की तरफ खिंची खिंची सी चली जा रही है और मनोहर के बगैर मोहन का घर उसके लिये कुछ मानी ही नहीं रखता। मनोहर नहीं तो कुछ भी नहीं। वह मनोहर की राह देखती और कभी-कभी दूसरों की आंख बचा कर उसकी आंखों में कुछ ढूंढने का प्रयास भी करती। कहीं मनोहर की बात छिड़ जाती तो इसके चेहरे का रंग बदल जाता और वह बड़ी उलझन में फंस-सी जाती, तड़प-सी जाती, यद्यपि बात कुछ भी न थी और कोई भी नहीं जानता था, वह भी नहीं जानता था जिसकी बात थी। वह उसे स्वप्नों में देखा करती थी, मगर वह स्वप्न किसी से कह न पाती थी। यह सब बीत रही थी उस के मन पर। अकेले-अकेले सब सह जाती थी।

मनोहर मौन गोपी के दिल में मचलते हुये भावों को अपनी दूर तक देखने वाली आंखों से देख रहा था। गोपी अब उसके दिल की राहत थी जिसके बिना वह कुछ सोच ही नहीं सकता था। शादी की बात चली थी, तो ठण्डी पड़ गई इस लिये कि मनोहर को वे क्षण

ही कहां मिलते थे जिनमें वह अपनी बारात के सुनहरे स्वप्न देख कर जी गरमाता, उसके स्वप्नों का समय तो कल्पना में गोपी से रामलीला खेलने में गुज़र जाता था, किसी दूसरी का गुजर उन वनों में कहां होता। कभी-कभी ऐसे ही में मनोहर अपनी मस्त निगाहों से गोपी की ओर घूर कर देखता तो उस समय गोपी घबरा जाती और उसे यों लगता कि उनका प्यार छलकने को ही है और मनोहर उसकी बांह पकड़ना ही चाहता है। लेकिन गोपी ने हर बार अपने को काबू में रख कर ऐसी घटनाओं को घटने न दिया और मनोहर को गोपी के अधिक समीप आने का अवसर न मिला। दोनों के दिल की दिल में रही।

गोपी को डर महसूस हो रहा था कि वह ज्योति जो उसने मनोहर के दिल में जला दी कहीं उसी के दामन को छू कर उसे ही भस्म न कर डाले। उसे यों लग रहा था जैसे मनोहर उसे पूछने ही वाला हो, 'गोपी सचमुच बतलाओ, तुम्हें मुझ से प्यार है ना।' यह सोचते ही उसके शरीर में एक सिहरन-सी होती और फिर स्वयं ही लाल हो कर अपने आप से कहती, इस प्रश्न का उत्तर मुझ से नहीं बन पड़ेगा। मैं मुंह दिखाने के योग्य नहीं रहूँगी। मैं विवाहिता हूँ। मुझे ऐसी बातें नहीं सुननी चाहियें। ठीक है मनोहर मेरे हृदय के अन्धेरे कोनों में छिपा बैठा है, मगर दुनिया की नज़रों में मोहन वहां विराजमान है—इस जन्म में तो मैंने मोहन का हाथ थाम लिया है समाज इसका साक्षी है। इस जन्म में जीवन के कड़वे घूंट पी कर गुज़ारा करना होगा। मनचाही ज़िन्दगी तो अब अगले जन्म में ही प्राप्त होगी। तभी मनोहर का प्यार मेरे दिल के अन्धेरे कोनों में उभर कर मेरे होठों की मुस्कान बन कर नाचेगा। मेरे भाग्य ने इस जन्म में मेरे लिये जो रखा था सो स्वीकार करना ही पड़ेगा। अब भाग्य से शिकायत क्या करें।" और इस तरह गोपी अपनी उबलती हुई भावनाओं को चुप करा देती और स्वयं अपने को ऐसी ही बातों से सान्त्वना देती रहती।

गोपी तो अपने हृदय पर काबू कर लेती, क्योंकि उसके लिये तो वह जन्म बीत चुका था जब बात बतलाई जा सकती थी, लेकिन

मनोहर तड़प रहा था। वह बात सुनना चाहता था इसी समय, अभी और वह भी सिर्फ़ गोपी के मुख से और जिसके सुनते ही उसकी कसक विलीन हो जाती। पर गोपी ने बात अपने होठों पर आने न दी और मनोहर की अभिलाषा अभिलाषा ही रही। इस तरह कुछ समय टल गया।

माघ की एक रात बर्फ़ खूब गिरी। इतनी गिरी कि खम्बे उखड़ गये। मकानों की छतें गिर गईं और बिजली की तारें टूट गईं। कस्बे में न जाने कितने दिनों के लिये अन्धेरा छा गया। ऐसे ही अन्धेरे में बैठे मनोहर को आज न जाने क्या-क्या याद आ रहा था। वह आने वाले ज़माने के वे धुंधले से स्वप्न भी देखने लगा, जिनका ताना-बाना उसे हाथ नहीं आ रहा था। गोपी से तो वह प्यार करते-करते थक गया था, लेकिन फिर भी वह उस दिन की बड़ी बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहा था जब उदासीनता परे हट जायेगी और गोपी इसके कान में आ कर स्वयं ही कह देगी, मनोहर, मुझे तुम से बहुत प्यार है।" इसके जवाब में वह क्या कहेगा—वह यह सोच ही रहा था कि उसने देखा सीढ़ियों से गोपी दीया लिये हुए अपने कमरे की तरफ जा रही है। मनोहर न जाने कैसे एकाएक उठ कर रोशनी की तरफ लपका और गोपी को उसके कमरे की दहलीज़ पर रोक कर उसकी बाहें पकड़ लीं और उसके हाथ में थमे हुए दीए को फूंक से बुझा दिया। गोपी की सांस रुक गई, मनोहर का दिल धड़कने लगा। गोपी की टांगों में कँप-कँपी हुई और मनोहर ने अपनी पूरी ताकत से गोपी को बांहों में भेंच लिया। वह ढीली पड़ गई। कुछ क्षण ऐसी ही रही। जब सहसा घर की रोशनियां जलीं, और वे सम्भल गये तो देखा गोपी की साड़ी पर दीए का सारा तेल गिर गया था।

['योजना' (जनवरी-फरवरी १९५९) से साभार]।

(★)

पानी और पत्थर

—वेद राही

फूलां के सुहाग की बिंदी जल कर जब राख हो गई, तो उसे अपने छः महीने के बच्चे को छाती से लगाए अपनी मां के घर आ जाना पड़ा। ससुराल में उसका और कोई नहीं था। मां ने उसे देखते ही छाती से लगा लिया, और फिर मां-बेटी दोनों कितनी ही देर एक दूसरे के गले लग कर फूट-फूट कर रोती रहीं।

फूलां की मां को भी वैधव्य का सफेद दुपट्टा ओढ़े अभी अधिक समय नहीं बीता था। फूलां का बापू मंगतराम किसी सरकारी दफ्तर में चपड़ासी था। वह गरीब आजीवन तीस-चालीस के मासिक भत्ते के बल-बूते परिस्थितियों से लड़ते-झगड़ते समय से पहले ही जब अपनी एकमात्र सन्तान फूलां के विवाह के तुरन्त बाद मर गया तो न केवल स्वयं खाली हाथ गया, बल्कि फूलां की मां को भी इस भरे संसार में खाली हाथ छोड़ गया। उस निस्सहायता में भी फूलां की मां ने अपनी बेटी के पास जाना स्वीकार न किया। उसने एक टोकरा भर सब्ज़ी खरीद ली, और गली-गली जा कर बेचनी शुरू कर दी, और इस प्रकार अपने पेट की सुलगती भट्टी में ईंधन डालती रही।

अब फूलां, जो अपने छः महीने के बच्चे को ले कर आ गई तो उसकी मां के समक्ष एक समस्या उठ खड़ी हुई कि उनकी गुज़र कैसे होगी? वह इतना कहां कमा पाती थी कि फूलां भी पेट-भर

खा सके और बच्चे को भी दूध उपलब्ध हो।

दोनों मां-बेटी ने बहुत सोच-विचार किया। आखिर निश्चय हुआ कि फूलां के पास जो नाम मात्र पूंजी है, उसके कुछ फल आदि खरीदे जायें, और अपनी गली के सिरे पर, जहां से बाज़ार शुरू होता है, वह वहां बैठ कर फल बेचा करें। दूसरे दिन प्रातः सब्ज़ी के अतिरिक्त फूलां की मां आमों का छोटा सा टोकरा भी मण्डी से खरीद लाई। परन्तु तब एक दूसरी ही समस्या आ खड़ी हुई।

सरोज की मां ने जो फूलां को आमों का टोकरा उठा कर बाज़ार जाते देखा तो रसोई छोड़ बाहर आ कर चीख ही तो पड़ी, हाय हाय ! यह जवान-मटियार बेटी को बाज़ार में कहां बिठाने लगी, अब इसी की कमाई खाओगी क्या ?'

फूलां की मां को जैसे सांप सूंघ गया, अब वह क्या कहे, उसे तो पहले सूझा ही नहीं कि सरोज की मां फूलां को फल नहीं बेचने देगी, आखिर वह मकान मालिकिन है; परन्तु नहीं ······· दूसरे ही क्षण फूलां की मां सतर्क हो गई। मकान-मालिकिन है तो क्या हुआ, हमारी जान की मालिकिन तो नहीं, किराया देती हूँ और रहती हूँ, मेरे और मेरी बेटी के बीच बोलने वाली यह कौन है ? इतना सोच अपने साहस को अपना हथियार बनायें वह अपनी अन्धेरी कोठरी से बाहर आ गई, जिस कोठरी के लिए वह प्रतिमास सरोज की मां को दो रुपया किराया देती है।

उधर सरोज की मां केवल इस घर की मालिकिन ही नहीं बल्कि गली-भर की चौधरायन भी है। सभी उस से डरते हैं, उसके घर में उस के अतिरिक्त और कोई नहीं; पति कब से मर चुके हैं। एक बेटी थी सरोज, सो ब्याह दी है। कई मकानों का किराया आ जाता है, किसी बात की कमी नहीं, बड़े ठस्से से रहती है।

फूलां की मां जब उसके सामने आई तो वह और भी ज़ोर से चीखने-चिल्लाने लगी, 'यह शरीफ और कुलीन लोगों का घर है,

बेइज्जत यहां नहीं रहते। अगर यहां रहना है तो बेटी को यों बाज़ार में न बिठाओ।'

अब तक फूलां की मां का सन्तोष चुक गया था, वह उसी तेजी से बोल उठी, "सरोज की मां, हम तुम्हारे मकान में रहते हैं तो मकान का किराया भी देते हैं, हम गरीब निर्धन है, मगर बेइज्ज़त नहीं। तुम पैसे वाले हो, बड़े लोग हो, ढोल बजा कर भी अपने आप को कुलीन शरीफ कह सकती हो। हम मेहनत करते हैं, कमाते हैं, खाते हैं, इसमें शर्म कैसी?"

'शर्म हो तो तब बात भी है, वह तो तुम ने पानी में घोल कर पी ली है।'

ऊंचे स्वरों में इस वार्तालाप को सुन कर अड़ोस-पड़ोस की औरतों ने झांकना शुरू कर दिया।

उधर आमों का टोकरा उठाए, और बगल में बच्चा संभालते हुए फूलां का एक पांव दरवाज़े के बाहर था तो एक अन्दर। वह दुविधा में थी कि करे तो क्या? उधर उसकी मां और सरोज की मां का झगड़ा बढ़ता जा रहा था। मां की बातों से प्रगट था कि वह सरोज की मां से भय खाने वाली नहीं, इसी गर्मा-गर्मी में वह बाहर आ गई, और गली की नुक्कड़ पर जहां से बाज़ार शुरू होता है, शिशु को गोद में बिठा कर आम बेचने शुरू कर दिए।

सरोज की मां ने उस दिन खाना भी न बनाया, आज पहली बार फूलां की मां से प्रत्युत्तर में गालियां खा कर उस की भूख ही मर गई थी। रात को सोते समय उस की आंखों में आंसू तिरने लगे। वह जैसे-जैसे इस अपमान का बदला लेना चाहती थी। अचानक उसे एक बात सूझी, उस की एक अंतरंग सहेली शकुन्तला का लड़का रमेश अभी-अभी कोई आफीसर बना है। क्यों न वह उसे बुला कर इस चुड़ेल फूलां की मां को अपने मकान से निकलवा दे·········इतना सोचने के थोड़ी ही देर बाद वह गहरी नींद सो गई।

दूसरे दिन उसने रमेश को बुला भेजा, और उसे सारी स्थिति

कह सुनाई। रमेश यहां आते हुए गली की नुक्कड़ पर फूलां को एक सरसरी नज़र से देख आया था, सो उस ने मामला मनोरंजक समझा, और सरोज की मां से कह दिया कि वह शीघ्र ही फूलां की मां को घर से बाहिर करने का कोई जतन करेगा। और जब वह वहां से लौटा तो बाज़ार में आ कर फूलां से एक सेर आम तोलने को कहा।

फूलां को दो ही दिन में बहुतेरे आते जाते लोगों की भूखी दृष्टि को सहन कर अपने काम में लगे रहने का अनुभव हो चुका था। परन्तु रमेश के चेहरे पर उस ने एक विचित्र ही ढीठ-सी मुस्कान का आभास पाया। आम लेकर और पैसे देकर जब तक वह चला न गया, फूलां इसी उलझन में फंसी रही कि वह कैसा निगोड़ा आदमी था, हंस क्यों रहा था? काफी समय तक वह यही सोचती रही, इस के बाद सहसा वह अपने मलगजे दुपट्टे को कंधों से घुटनों तक फैला कर बच्चे को दूध पिलाने लगी।

उसी शाम फूलां ने जब रमेश को अपने घर में देखा तो ठिठक सी गई। रमेश उस की ओर देख कर फिर वैसे ही मुस्करा दिया, और दूसरे दिन सुबह जब वह फिर फूलां से आम खरीदने लगा तो फूलां का हाथ न जाने क्यों आम तोलते हुए कांपने लगा।

फिर एक दो दिन यही होता रहा तो फूलां से रहा नहीं गया। एक शाम घर आ कर सहसा वह फूट २ कर रोने लगी। मां ने बढ़ कर उसे गोद में ले लिया। मां के वक्ष की गर्मी पा फूलां के आंसू और भी तेज़ी से बहने लगे। बड़ी मुश्किल के बाद फूलां ने अपने रोने का कारण बतलाया। मां ने कहा, "सरोज की मां से कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं, मैं स्वयं ही उस निगोड़े से निपट लूंगी।"

परन्तु दूसरे दिन सवेरे ही फूलां और उस की मां ने देखा कि सरोज आई हुई है।

सरोज और फूलां बचपन से ही बड़ी अंतरंग सहेलियां थीं।

बड़े हो कर परिस्थिति वश बीच की दूरी ने चाहे दोनों को अलग २ नावों में बिठा दिया था, फिर भी बचपन में एक साथ बीते हुए अनेकों क्षणों की गहरी अनुभूति उस समय फिर सजग हो उठी, अब वह इतने दिनों के बाद मिली। सरोज यह सुन कर रो भी उठी कि फूलां के पति का देहान्त हो गया है।

सरोज के आगमन के कारण फूलां की मां ने उस दिन रमेश को कुछ कहना उचित न समझा, उस ने देखा रमेश सरोज के साथ बहुत घुल मिल कर बातें कर रहा है और फिर उसे कुछ कहने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी।

उसी दिन से कुछ ऐसी बात हुई कि रमेश ने फूलां से आम मोल लेने बन्द कर दिए। घर में भी उस ने फूलां को घूरना छोड़ दिया। सवेरे शाम दोनों समय वह वहीं रहता, कभी सरोज, कभी उसकी मां से हंस २ कर बातें करता दिखाई देता। फूलां और उसकी मां ने समझ लिया कि बला टल गई। मानों सस्ते छूट गए।

इसी प्रकार कोई दो महीने बीत गए। फूलां बच्चे को दूध पिलाते हुए आम तौलती रही, फूलां की मां सब्ज़ी लिए गली-गली फिरती रही, सरोज की मां दोनों को देख-देख कर जलती-भुनती रही, और सरोज और रमेश की बात-चीत ऊंचे स्वरों से धीमे स्वरों तक पहुँचती रही।

फूलां ने कई बार चाहा कि वह सरोज से कहे रमेश भला आदमी नहीं, पर वह जब दोनों को सट कर बैठे हुए हँस-हँस कर बातें करते हुए देखती तो चुप रह जाती। वह जानती थी कि सरोज अब वह सरोज नहीं जो उसके बचपन की अन्तरंग सहेली थी, वह सोचती, हो सकता है इस समय यदि वह उसे रमेश के बारे में ऐसी बात कहे तो उसे थप्पड़ या गालियां खानी पड़ें। वह तो चुप रही।

सरोज की मां का दबाव बढ़ गया, कि जैसे भी हो रमेश फूलां और उसकी मां को इस मकान से निकाल बाहर करें। रमेश क्या कर सकता था। वह इधर-उधर की बातें बना कर टाल देने की

कोशिश करता, और फिर उसे इतना अवकाश कहां था ? सरोज की मीठी बातों और शारीरिक आकर्षण ने उसे एक अनोखी परिधि में समेट लिया था, उधर सरोज भी जिसने पहले इस मामले में गम्भीरता नहीं दिखाई थी, अब बिना कुछ सोचे-समझे आगे बढ़ती जा रही थी। उसे अब अपनी मां के पास रहते तीन महीने बीत गए थे; और इतने दिन बीत जाने पर भी उस की ससुराल से उसे लिवाने के लिए कोई नहीं आया।

गली-भर में दबे-दबे चर्चा होने लगी कि सरोज ससुराल वालों से लड़ कर आई है, उसकी मां के कानों में भी इस बात की भनक पड़ने लगी। मां को भी अपने मन में चाहे ऐसी शंका होने लगी थी फिर भी वह ऐसे अवसर की खोज करने लगी, जब वह चिल्ला-चिल्ला कर कह सके, 'हम इज्जतदार आदमी हैं, कुलीन और शरीफ ऐसे-वैसे नहीं कि बेटी को ऐरे गैरों से ब्याह दें, खबरदार जो उन पर किसी ने कीचड़ उछाला, सरोज बड़े घर की बेटी और बड़े घर की बहू है, वह जब चाहे वहां रहे, जब तक चाहे यहां।'

परन्तु ऐसा चिल्ला-चिल्ला कर कहने का उसे अवसर नहीं मिला।

एक और महीना बीत गया, और सरोज को लिवाने तब भी कोई नहीं आया तो उस ने एक दिन घबरा कर सरोज से इस सम्बन्ध में पूछा। सरोज ने मां के सामने स्वीकार कर लिया कि वह पति तथा सास से लड़ कर आई है। यह भी उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि अब वह कभी भी वहां नहीं जाएगी; उस की मां को पहले तो यह सब सुन कर सन्नाटा आ गया, फिर उसका जी चाहा कि छाती पीट ले। सरोज मां की ओर देख कर रोने लगी। बेटी को रोते देख मां ने अपने को सम्भाला, कहने लगी, 'यदि तुम्हारे ससुराल वाले ऐसे हैं तो अब तुम बुलाने पर भी उन के वहां न जाना। ऐसा यहां क्या है कि तुम्हें किसी बात का अभाव हो ?'

बात सच भी थी, सरोज को वहां किसी बात की कमी नहीं थी। मां बेटी दोनों खाना बना कर खा लेतीं। शेष दिन या तो सीने में कटता या रमेश से गप-शप लड़ाने में। रमेश तो अब

जैसे इसी घर में रहता था। सरोज की मां ने अब थक हार कर उस से यह कहना छोड़ दिया था कि वह फूलां और उस की मां को मकान से निकाल दे। जब से सरोज ने उसे अपनी स्थिति बताई थी, उस ने गली में आना जाना भी छोड़ दिया था।

उधर फूलां और उस की मां जीवन के रुठे हुए सुखों को रिझाने के लिए उसी समान यत्न किए जा रही थीं। जीवन की तपती दुपहरी में कोसों की यात्रा के उपरांत दो समय की रोटी प्राप्त होती थी उन्हें। अवकाश नाम की कोई वस्तु होती है, उन्हें इस का ज्ञान नहीं था। समय का पल २ उन के लिए हीरा था। सवेरे उठते ही दोनों खाने पकाने में लग जातीं और फिर तुरन्त अपने २ काम पर चली जाती। संध्या में अंधेरा होने से पहले ही लौट आतीं। तब फिर दोनों को खाना पकाने में लग जाना पड़ता, उस के बाद दोनों थक कर चूर हो गई होतीं, नींद उन्हें यों अपने आंचल से ढक लेती, जैसे फूलां अपने बच्चे को गोद में लेकर दूध पिलाने लगी हो।

कुछ दिनों से फूलां और उस की मां को लग रहा था, जैसे वे दोनों जब अपने २ काम पर चली जाती है, तो उनकी अनुपस्थिति में कोई उन की कोठड़ी में आया होता है। पहले दिन तो उन्हें इस बात का आभास तक हुआ, जब उन्हें भी बाहिर लगा ताला ही खुला मिला, पर यह सोंच कर शायद उन्हीं की भूल से ऐसा हुआ वे निश्चिंत हो गई। पर दूसरे दिन शाम को फूलां जब घर लौटी तो देखा उस की मैली सी दुलाई जिसे वह अपनी खाट पर रख गई थी, दरवाज़े के पास मिट्टी से अटी पड़ी है, और कुछ मांजे बरतन भी इधर उधर हुए हैं। तीसरे दिन घड़ा ही टूटा-फूटा मिला। अब क्या हो? मां बेटी दोनों घबरा गईं कहीं कोठड़ी में कोई भूत ही न आ घुसा हो। अगले दिन फूलां की मां ने साहस किया, और दुपहर को ही घर लौट आई। डरते हुए धीरे २ अपनी कोठड़ी के निकट पहुंची। सहसा अन्दर से किसी के हंसने की आवाज़ आई, वह चौंक उठी। आगे बढ़ी तो दरवाज़े की दरार से झांक कर देखा, सरोज और रमेश जैसे आंख मिचौली खेलते हुए कोठरी में इधर

उधर भाग रहे थे। वह गुस्से से लाल हो उठी थी। उसी दम वह सरोज की मां के पास पहुँची और पूछा, सरोज कहां है? सरोज की मां चकित हो उसे देखने लगी, महीनों की बन्द बात चीत के बाद यह अचानक इस समय कैसा प्रश्न कर रही है। वह उस की ओर देखती रही, फूलां की मां ने दुबारा पूछा तो उस ने उदासीन लहजे में बता दिया कि सरोज अपनी किसी सहेली के पास गई है। तब फूलां की मां ने उसे अपने साथ अपनी कोठड़ी में चलने के लिए कहा। सरोज की मां कुछ समझ न सकी वह और भी आश्चर्य चकित हो कर टुकर २ उस की ओर देखने लगी, जब फूलां की मां उस का हाथ पकड़ कर उसे उस ओर ले चली तो वह कुछ कहे सुने बिना उस के साथ चल पड़ी।

कोठड़ी के दरवाज़े की दरार से झांक कर दोनों ने भीतर का जो दृश्य देखा तो मानो वे मूर्छित होते-होते बच गईं। कुछ ही क्षणों बाद उस घर में एक भयानक काण्ड मचा हुआ था।

रमेश को तो क्या कहा जाता, वह दुम दबा कर भाग गया। सरोज को उस की मां ने इतना पीटा कि बाद में अपनी छाती कूट-कूट कर रोने लगी। उस की जीवन भर की कमाई चुक गई, कुल की मर्यादा ही लुट गई। वैधव्य के जीवन का एक-मात्र सम्बल ही खो गया, इज्जत नहीं तो क्या रहा। रमेश और उस के घर भर को हज़ार-हज़ार गालियां दीं उस ने, पर गालियों से क्या होता, घण्टों सिर पकड़ कर घुटनों बैठी रही वह।

फूलां की मां को उस पर बड़ी दया आई, उसे ग्लानि हुई कि वह सरोज की मां को वहां क्यों ले गई, किसी और ढंग से भी तो जतला सकती थी यही बात, खुद भी तो सरोज को मना कर सकती थी, पर अब ऐसा सोचने से क्या हो सकता था? फूलां तो एक दम स्तब्ध थी, उसे तो रमेश पहले ही भला आदमी न लगा था, सरोज के प्रति उसका मैत्री भाव पुनः उमड़ आया था।

दो दिनों के बाद सरोज की मां अधमरी सरोज को खाना देने

उसके कमरे में गई, तो वहां एक पत्र पड़ा हुआ मिला, लिखा था—

'मां ! मैंने तुम्हें बहुत दुःख दिया, इतना कि शायद तुम कभी क्षमा न कर सको, पर मैं भी अब इतनी आगे निकल चुकी हूँ कि वहां से वापिस नहीं आ सकती, मैं रमेश के साथ जा रही हूं, मेरे गहने मेरे पास हैं, बड़े सन्दूक में जो नोट थे, वह भी मैंने ले लिए हैं, जानती हूँ तुम मुझे आशीर्वाद नहीं दोगी, चरण-रज ले चली हूँ। —सरोज'

पत्र पढ़ते ही सरोज की मां मूर्छित हो गई। बहुत समय उपरांत मूर्छा टूटी तो उसे यों अनुभव हो रहा था जैसे वह निष्प्राण हो चुकी है।

अनायास उस समय फूलां अपने बच्चे को गोद में लिए उस कमरे में आ निकली। उसे पता चला था कि दो दिन से सरोज ने खाना नहीं खाया। उसे कुछ खिलाने वह आई थी। पर सरोज की मां उसे देखते ही दहाड़े मार-मार कर रोने लगी तो वह डर गई। हौले-हौले पग उठाती वह आगे बढ़ी तो रोती हुई सरोज की मां ने उसे गले से लगा लिया।

फूलां ने सहमे स्वरों में पूछा, 'सरोज कहां है मां ?'

सरोज की मां ने रोते हुए दीर्घ स्वरों में कहा, 'वह ससुराल गई बेटी, अब वह कभी नहीं आएगी।'

फूलां मुंह बाये देखती रही कि सरोज की मां क्या कह रही है ?

✪

यक्ष और टोपी

—हरिकृष्ण कौल

सालन और सब्जियां पक कर तैयार हो चुकी थीं और अब मां हल्की-हल्की आंच पर खिचड़ी पका रही थी। रूपा भी चौके में बैठ कर सास का हाथ बटा रही थी; हाथ क्या बटा रही थी, वास्तव में सारा काम उसी ने किया था। हां, मां ने उसे रोज की तरह चूल्हे के आगे बैठने नहीं दिया था। आज पौष की अमावस्या थी। कुबेर की पूजा का दिन था। अतः अन्य दिनों की अपेक्षा काम कुछ अधिक था। किन्तु सास और बहू ने मिल कर शीघ्र ही उसे पूरा कर लिया था और अब उन्हें केवल हृदयनाथ की प्रतीक्षा थी।

मोहन और विजया खिड़की में बैठे आपस में कुछ खुसर-पुसर कर रहे थे। मां उन्हें डांट रही थी कि इतनी सर्दी होने पर भी वह खिड़की क्यों बन्द नहीं करते। लेकिन बच्चे उसकी बात मानें, तब न? वे फिरनों के भीतर कांगड़ियां छिपा कर यक्ष की ताक में थे। यक्ष आके रहेगा, ऐसा उनका विश्वास था। वह जल्द ही उनके आंगन में घुस कर किसी अन्धेरे कोने में छिप जायगा। फिर जब मां पूजा समाप्त करके आंगन की दीवार में बने ताकचे पर खिचड़ी रखेगी, तो वह झट निकल कर खिचड़ी खाने लगेगा, और यही वह अवसर है जब वह उसकी टोपी चुरा सकते हैं।

बहुत समय पहले की बात है—बच्चों ने मां से सुना था—

किसी परिवार के एक व्यक्ति ने आज की ही रात यक्ष की टोपी चुरा ली और उसे चक्की के भारी पाट के नीचे रख दिया। बस फिर क्या था, वह यक्ष उनका हर एक हुक्म बजा लाने लगा। उन्होंने उस से मकान की मरम्मत करने को कहा और उस ने दो घण्टों के भीतर उसकी टूटी-फूटी झोंपड़ी को एक भव्य महल में बदल दिया। आस-पास फलों और फूलों से हरे-भरे बाग उग आए। इतना ही नहीं, उनका अब सारा काम यक्ष ही करने लगा। वही उनके लिए बीज बोता, काटता, धान कूटता और खाना पकाता। अब घर के लोगों के पास करने को कोई काम रहा नहीं और वे सारा समय पूजा पाठ में बिताने लगे।

लेकिन एक दिन जब घर के सब लोग कहीं चले गये थे और वहां केवल छोटी बहू थी, यक्ष को अवसर हाथ लगा। वह उस के सामने गिड़गिड़ा कर अपनी टोपी मांगने लगा। बहू उस घर में नई-नई आई थी, उसका दिल पसीज गया और उस ने चक्की के पाट के नीचे से टोपी निकाल कर यक्ष को दे दी। यक्ष टोपी ले कर भाग गया और पल भर में उनका भव्य महल पुनः एक टूटी-फूटी झोंपड़ी में तब्दील हो गया। फलों और फूलों के बाग गायब हो गये और वे एक बार फिर राजा से भिखारी बन गये।

"फिर उन्होंने छोटी बहू को बहुत पीटा होगा?" विजया ने पूछा।

'ज़रूर पीटा होगा। काम भी तो उस ने वैसा ही किया था।' मोहन ने उत्तर दिया।

'मगर बेचारी ने जान बूझ कर थोड़े ही किया था। उस दिन रूपा भाभी ने भी भाई राज का पुराना कोट एक बूढ़े भिखारी को दे दिया था, लेकिन मां ने उसे बिलकुल नहीं पीटा।'

'वह तो मां की गलती थी। मुझे तो डर है कि यदि हम यक्ष से टोपी चुरा भी लें तो रूपा भाभी उसे लौटा न दे और हमारी सारी मेहनत व्यर्थ जाए?'

'नहीं, रूपा भाभी उतनी बुरी नहीं है।' विजया ने प्रतिवाद किया। 'जब २ मैके से आती है हमारे लिए बादाम और मुगफलियां लाती है।'

बुरी तो मैं भी उसे नहीं कहता। लेकिन अच्छा रहेगा यदि हम टोपी की बात उस से छिपा कर रखें।'

'हां, यह ठीक है।' विजया को भाई की बात पसन्द आई और वे दोनों सतर्क होकर यत्न की प्रतीक्षा करने लगे।

रूपा भाभी को बच्चे बुरी नहीं समझते थे। सास भी शान्त स्वभाव के कारण उसे प्यार करती थी, किन्तु इस समय उसके बाल रवि की तरह दमकने वाले माथे पर शिकनें पड़ गई थीं और आंखों से चिंगारियां झर रही थीं।......हजरत सुबह दस बजे से आफिस गये हैं और अभी तक मटरगश्ती ही कर रहे हैं। यह जानते हुए भी कि मां की तबीयत आज कल कुछ अच्छी नहीं, यार-दोस्तों के बीच बैठे गप्पें लड़ा रहे होंगे। वे आते, पूजा होती और वह अपने बिस्तर में जा घुसती, बिना कुछ खाये पिये। दिन भर की थकान से उस का अंग २ टूट रहा था--पल २ गुजरने के साथ २ रूपा की खीज भी बढ़ती ही जाती थी।

तभी किसी के पैरों की आहट सुनाई दी और कुछ देर बाद उस ने हृदयनाथ को अपना ओवरकोट झाड़ते देखा जिस पर बर्फ की परत सी जम गई थी। 'शुक्र भगवान् का!' उस ने दबी जबान से कहा और अपनी रिस्ट-वाच पर नजर डाल कर टाईम देखा।

दिन-भर के थके-मांदे हृदयनाथ को पत्नी की अदा बहुत भली लगी। उसे अपने दफ्तर का सुपरिण्टेण्डेण्ट याद आया जो उसके लेट आने पर इसी प्रकार अपनी रिस्ट वाच देखता है। रिस्ट-वाच देखने के बाद उस की आंखें लाल हो जाती हैं और वह उसे ससपैंड कराने की धमकी देता है। लेकिन रूपा टाईम देखने के बाद मुस्करा रही थी। माथे पर पड़े बल गायब हो गये थे और शोख आंखें हृदयनाथ से पूछ रही थीं—क्यों जी, सुबह की कान पकड़ कर देर से

न आने की प्रतिज्ञा का क्या हुआ ?'

मां ने हृदयनाथ को देखा और शिकायत—भरे स्वर में बोल उठी—बर्फ बारी में कहां फिर रहे थे बेटा ? यह तुम्हें मालूम था आज यक्ष अमावस्या है और...... ।

'चाचा के लिए दवाई लाने गया था ।' हृदयनाथ इतना ही कह कर कपड़े बदलने के लिए ऊपर के कमरे में चला गया और मां की सारी शिकायत न जाने कहां चली गई । केवल 'ठीक है' कह कर पुनः अपने काम में जुट गई ।

रूपा को यह सब ठीक न लगा । आखिर यह मां-बेटे चाचा जी से इतना क्यों डरते हैं ? वह इन्हें जिस समय भी जैसा भी काम करने को कहें, यह चूं-चां तक नहीं कर सकते और रूपा को दो दिन पहले की बात याद आई । हृदयनाथ ने उसे सिनेमा ले जाने का प्रोग्राम बनाया था । मां ने भी खुशी २ अनुमति दी थी । हृदयनाथ तैयार हो चुका था और उस ने भी साड़ी बदल ली थी । साड़ी के ऊपर वह शाटकोट पहन ही रही थी कि चाचा जी का बुलावा आ गया । हृदयनाथ को अपनी चचेरी बहिन ससुराल से लिवा लानी थी । आज्ञाकारी भतीजा इनकार कर सके, ऐसा भी कहीं हो सकता ! जल भुन गई थी वह । हृदयनाथ भी थोड़ी देर के लिए असमंजस में पड़ गया था । लेकिन फिर उस ने बीच का रास्ता निकाल कर रूपा से कहा था—चलो अच्छा ही हुआ । इस समय भीड़ बहुत होती है । सेकंड शो में चलेंगे ।

वह बच्ची नहीं थी कि उसे इस प्रकार बहलाया जाता और वह तालियां बजाती । उस के मुंह से यह शब्द निकल ही गये, 'जाइये, मैं सिनेमा देखने के बगैर भी ज़िन्दा रह सकती हूं, पर आप की चचेरी बहिन को कोई नौकर चाहिए जो उस का शृंगार बक्स, अटैचीकेस, कपड़ों की गठरी आदि रास्ते में उठाये । हृदयनाथ अपनी सफाई में कुछ कहना ही चाहता था कि वह बिजली की सी तेज़ी में साथ कपड़े बदलने के लिए चली गई ।

उस दिन शाम को सास ने उसे तसल्ली दी थी—'बेटी, तुम्हें ठेस लगी होगी। मगर हृदयनाथ चाचा जी की आज्ञा कैसे टाल सकता है। उन के स्वर्गवास होने के बाद वही उस के पिता हैं। लेकिन मां की आवाज़ उस के शब्दों का समर्थन नहीं कर रही थी, यह बात रूपा से छिपी न रह सकी।

और चाचा जी को वह कब की परख चुकी थी। परसाल जब हृदयनाथ को टाईफाईड हुआ तो एक बार भी हाल पूछने नहीं आये। हां. छटे दिन अपनी बेटी को भेजा। वह भी असल में उस से वन-पीस स्वेटर का नमूना सीखने आई थी। पर यदि चाचा जी के पांव में कांटा भी चुभ जाये तो दोनों मां बेटे अपना सिर पीट लेंगे, छाती कूट लेंगे।

कुछ देर के लिए कमरे में निस्तब्धता छाई रही, और मां ने हृदयनाथ के प्रति उत्पन्न हुए क्रोध को बच्चों पर उगल डाला, जब निमोनिया हो जायेगा तो, तब मेरी बातें समझ आएंगी। रात को यदि किसी ने भी सिर दर्द की शिकायत की तो उसे खिड़की से बाहर फेंक दूंगी।

बच्चों ने डरते २ खिड़की के पट बन्द कर दिए। मोहन ने विजया के कान में धीरे से कहा—'चिन्ता न करो। यद्द को उस समय तक ठहरना ही होगा जब तक मां दीवार में बने ताकचे पर खिचड़ी रखेगी।'

हृदयनाथ कुछ देर के बाद कपड़े बदल कर लौटा। रूपा ने उस के आगे गज़ भर ज़मीन को लीप डाला और वहां कटोरों में किसी फूल की सूखी पत्तियां और अर्घ्य रखा। फिर वह नल से एक पानी भर लोटा लाने के लिए बाहर निकली। अभी नल पर ही थी कि उस ने चाचा जी के छोटे लड़के को मकान में प्रवेश करते हुए देखा। वापिस आ कर उस ने देखा हृदयनाथ कहीं जाने के लिए तैयार हैं। कुछ समझ में नहीं आया और उस ने अपनी सास से पूछा कि बात क्या है? उस के तन-बदन में आग लग गई जब उसे यह मालूम हुआ कि हृदयनाथ इस बर्फ के तूफान में चाचा के लिए

संतरे खरीदने जा रहा है। यह जानते हुए कि सास के सामने उस का बोलना ठीक नहीं, वह उस लड़के से बोल उठी—'चाचा जी से कह दें वहां पूजा हो रही है। इस समय कोई नहीं आ सकता।'

'नहीं बेटी, पूजा तो दो तीन मिनट के बाद भी हो सकती है। आखिर संतरे खरीदने में समय ही कितना लगेगा?' मां डर रही थी कि कहीं हृदयनाथ जाने से इनकार न कर दे। लेकिन मां की यह शंका निराधार थी। हृदयनाथ में चाचा की बात टालने के लिए ज़रा भी साहस नहीं था। उस ने जूते पहन लिए और निकल पड़ा।

रूपा मन मसोस कर रह गई यह सब देख कर। उस का जी चाहा कि अपनी सास से पूछे—'मां जी तुम्हारी ममता कहां चली गई? दिन-भर के थके-मांदे और भूखे-प्यासे बेटे को इस बर्फबारी में बाहिर भेजते हुए तुम्हारा दिल नहीं पसीजा? चाचा जी तुम्हारे क्या होते हैं?'' लेकिन यह सब कुछ कह न सकी और थाली में पूजा के लिए परोसी खिचड़ी को वापिस पतीले में डाल कर किसी से कुछ कहे सुने बिना ऊपर के कमरे में चली गई।

सास जान गई कि बहू क्रोध में है। उसने एक ठण्डी सांस भरी और उसे लगा कि बहू का क्रोध उचित ही है। इस भयानक बर्फ-बारी में हृदयनाथ को बाहिर भेज कर उसने अच्छा नहीं किया है; क्या वह यह नहीं समझती? पर उसकी बहू उसकी मजबूरी नहीं जानती। अपनी ही कमज़ोरी है, नहीं तो हृदयनाथ के चाचा जी को वह खूब पहिचानती है।.........मृत्यु से कुछ दिन पहले उनकी हालत ज्यादा बिगड़ गई थी और वह सब कुछ छोड़ कर उनकी तीमारदारी और मल-मूत्र उठाने में लगी थी। उन दिनों उसे अपनी भूख का क्या ख्याल था पर हृदयनाथ को खाली पेट दफ्तर जाना पड़ता था। तब उसने देवरानी से विनती की थी कि वह अपनी बेटी शीला को सुबह के समय उनके हां भेज दिया करे, ताकि पाव भर चावल तो सुबह बन जाया करें। मां-बेटी दोनों मान गईं। लेकिन हृदयनाथ के चाचा ने जब सुना तो आग-बगूला हो गए। पत्नी से कहने लगे, 'क्या बांदी समझ लिया है उन लोगों ने मेरी बेटी को? शर्म नहीं आई उन्हें यह कहते हुए! गोबर नहीं ठूंसा तुम ने उस बुढ़िया के मुंह में!' और

फिर आव देखा न ताव। मृत्यु-शय्या पर पड़े अपने भाई से झगड़ने के लिए आये थे। उन्हें ऐसी-ऐसी बातें सुनाई थीं कि उसी रात उन के पखेरू उड़ गये ....। मां की आंखें भीग गईं।

मोहन ने मां की आंख बचा कर खिड़की के पट फिर खोल दिये थे और वहां बैठ कर यक्ष की प्रतीक्षा कर रहा था। विजया भी उसके पास चली गई थी। मोहन कह रहा था—'टोपी चुराने के बाद मैं यक्ष को हुक्म दूंगा कि वह इसी समय सारी सड़कों और गलियों से बर्फ उठा कर उन्हें साफ कर दे।'

'नहीं, वह भूखा होगा। पहले वह खिचड़ी खायेगा और फिर तुम्हारा काम करेगा।' विजया ने कहा।

'नहीं, उसे हमारी बात माननी ही होगी, चाहे वह दिन-भर का भूखा ही क्यों न हो। आखिर उसकी टोपी जो हमारे पास होगी।' इस तर्क ने विजया को लाजवाब कर दिया और वह चुप हो गई।'

लगभग आध घण्टे के बाद हृदयनाथ लौटा। सन्तरे वह चाचा जी के हां दे आया था और उसने दोनों हाथ ओवर-कोट की जेबों में रखे थे। आते ही वह मां से बोल उठा—'अब मुझ से और नहीं सहा जाता। जैसे भी हो ....।

सहसा वह चुप हो कर चारों ओर नजर दौड़ाने लगा। मां भांप गई और आहिस्ता से बोली—'बहू ऊपर के कमरे में चली गई है। इस समय तुम्हारा बाहिर जाना उसे अच्छा नहीं लगा।' फिर ठण्डी सांस भर कर कहने लगी—'मैं कैसे समझाऊं कि बेटी हम चाचा जी की छोटी सी बात भी नहीं टाल सकते। तुम्हारी शादी के समय जब सुनार ने ऐन मौके पर कंगन और कण्ठी उधार देने से इनकार कर दिया था तो चाचा जी ने ही छः सौ रुपये निकाल कर हमारी लाज रखी। अब भी उन के दो सौ रुपये हम पर बकाया हैं। यदि हम उन की बात मानने से इनकार कर देंगे तो वह तुम्हारे सामने हमारा भांडा फोड़ देंगे। हमारी इज्जत धेले के बराबर न रहेगी।'

'इसी लिए कहता हूं मां जैसे भी हो यह रकम जल्द से जल्द

चुकानी पड़ेगी।'

हृदयनाथ का सुझाव ठीक था। किन्तु अभी कुछ समय तक आर्थिक कठिनाइयों के कारण ऐसा होना असम्भव है, यह बात वे दोनों भली भान्ति जानते थे। इसी लिए थोड़ी देर तक किसी से भी कुछ कहते न बना। तभी रूपा नीचे आई। पर न जाने क्यों उसे भी यह निस्तब्धता तोड़ने की हिम्मत न हुई। आखिर मोहन ने ज़ोर से खिड़की के पट बन्द करके इस खामोशी को तोड़ दिया और फिर मां के पास आ कर कहने लगा—'मां तुम झूठ कहती हो। पहले तो यक्ष नाम का कोई जीव होता ही न होगा, और यदि होता भी होगा तो मामूली-सी टोपी के लिए किसी की गुलामी क्यों करेगा?"

मां ने कोई उत्तर न दिया तो वह रूपा से पूछ बैठा—'क्यों भाभी, तुम्यारा क्या विचार है?'

रूपा ने धीरे से, ताकि सास सुन न सके, कहा—'यक्ष की बात तो मैं जानती नहीं, पर कई आदमी दूसरे की गुलामी किए बिना जिन्दा नहीं रह सकते। एक पल भी गुज़ार नहीं सकते।'

रूपा की बात शायद हृदयनाथ ने सुनी और वह मोहन से बोल उठा—'टोपी कोई मामूली चीज़ नहीं, इज्जत की निशानी होती है, और अपनी इज्जत बचाने के लिए प्राणी क्या नहीं करता?'

बात रूपा ने सुनी और उसे दिखाई दिया कि इन सब बातों में जरूर कोई रहस्य है। उसने हृदयनाथ की ओर देखा, पर वह कहीं और देख रहा था।

['योजना' से साभार]

डोलमा

—जवाहर लाल कौल

वह रोज़ हमारे घर आया करती थी। घण्टा-भर पिता जी के पास हिन्दी पढ़ती और चली जाती। आते या जाते समय वह सभी उपस्थित लोगों को 'जू ले' (नमस्ते) कहना नहीं भूलती थी। छोटे से इन दो शब्दों में क्या जादू भरा था। न मालूम यह शब्द कब से मेरे अन्तर में उथल-पुथल मचाने लगे थे। उसे देख कर न जाने क्यों मैं मौन हो उसे देखता ही रहता। लेकिन मैं उस के बारे में कुछ नहीं जानता था। जानना भी चाहता तो किसी से पूछ भी नहीं सकता था।

एक दिन जब माता जी तथा घर के अन्य सदस्य कहीं गए हुए थे तो वह आ गई और अन्दर चली गई। वहां किसी को न पा कर वापिस बरामदे में आई। घर जाने ही वाली थी कि मेरा कुत्ता 'ठसी' भौंक पड़ा। वह मुस्कुराई। शायद कुत्ता समझ गया कि वह इस घर की परिचित है, और चुप हो दुम हिलाने लगा। उसने कुत्ते को गोद में उठा लिया। यह सब मेरे लिए आश्चर्य की बात थी, क्योंकि यह शरीर कुत्ता दूसरों के तंग करने में कुख्यात था। मैं भी मुस्कुराया और उसे बैठने के लिए इशारा किया। वह बैठ गई।

'तुम्हारा नाम क्या है?' थोड़ी हिचकिचाहट के बाद मैंने पूछा।

'डोलमा'

'कहां रहती हो ?'

'संकर गुम्पा'

'क्या तुम्हारे भाई-बहिन हैं ?'

'न'

'मां'

'मालूम नहीं'

'क्या वह तुम्हारे पिता के पास नहीं ?' मैंने आश्चर्य से पूछा।

'नहीं'

'क्या पति से झगड़ा हो गया है ?'

'वह उसके पति नहीं'

'तो वह तुम्हारे असली पिता नहीं ?'

'नहीं'

वह लज्जा से मिर्च-सी लाल हो गई थी। मुझे लगा कि प्रश्न पूछ कर मैं उचित नहीं कर रहा था। पर मैं कुतूहल को दबाने में समर्थ न हो सका और मेरे मुंह से निकल ही पड़ा, 'तब तुम…… ? मैं कुछ बोल ही रहा था कि मेरी दृष्टि उसके चेहरे पर पड़ी और मैं चुप हो गया। उस का लाल रंग सहसा पीला पड़ गया, आंखों की ज्योति बुझ-सी गई। मुझे लगा कि वह अभी गिर जाएगी। इस आकस्मिक परिवर्तन को देख मैं घबरा गया। उस के मुख पर स्वेद-बिन्दु प्रकट हो गए थे, अंगुलियां कांपने लगीं। उस ने कुत्ते की ज़ंजीर पकड़ ली, पर कम्पन इतना तीव्र था कि वह भी हिलने लगी। मैं दौड़ कर अन्दर चला गया और पानी का एक गिलास ला कर उसके आगे कर दिया। उस का मस्तक उस के घुटनों में झुक चुका था। मेरे बैठते ही उस ने मुख ऊपर किया।

'पी लो' मैंने कहा।

वह बावली-सी देखने लगी।

'पानी पी लो' ठीक हो जाओगी!'

उसने गिलास थाम लिया और एक दम सारा पी डाला। फिर धीरे-धीरे वह सचेत होती गई और मुस्कुराने का प्रयत्न करने लगी।

'मैं क्षमा चाहता हूँ. मुझे ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिये थे।' मैंने कहा, 'पिता जी आज देर से आयेंगे, तुम्हारी भी तबीयत ठीक नहीं। कल सवेरे ही आ जाना। कल रविवार है ना? वह 'अच्छा' कह कर चली गई। द्वार पर पहुँच कर एक क्षण रुक गई और मुड़ कर 'जू ले' कहा।

डोलमा किसी 'चिमो' की लड़की थी। बौद्ध 'चिमो' (भिक्षुणियों) विवाह नहीं करती और इसी लिए डोलमा को मां का अंक नसीब नहीं हुआ। किसी दिन 'संकर' गुम्पा के प्रधान लामा के कानों में अबोध बच्चे की आर्त गिरा आई और उस ने बच्चे को एक झाड़ी में पड़े पाया। बस वहीं 'संकर गुम्पा' में पलने वाली डोलमा थी। महात्मा बुद्ध की विशाल प्रतिमा के चरणों में, पिटक ग्रंथों के गान में पल कर डोलमा ने अब यौवन में पद रखा था। बरसाती नदी की भान्ति बढ़ते यौवन को सावधानी से सम्हालती हुई, लद्दाख की यह शकुन्तला नित्य प्रातः उठ कर बुद्ध की एक छोटी मूर्ति के सामने झुक जाती और फिर धीरे २ शीश ऊपर उठा कर एकाग्र हो उसे देखने लगती। वह उस मूर्तिमान संयम में लीन हो जाना चाहती थी अथवा उसे अपने में लीन करना चाहती थी, यह कौन जाने?

उस दिन जापानियों की हार हुई थी तथा डाक घर पर एक भव्य यूनियन जैक लहरा रहा था। सड़क पर बच्चे बड़े खुश २ चिल्ला रहे थे। वहीं एक किनारें पर एक लामा खड़ा तमाशा देख रहा था। उस के साथ एक युवती थी, भव्य प्रतिमा—कलाकार की साकार कल्पना सी! तब मैंने उसे पहली बार देखा था, और न मालूम कैसे पिता जी से लामा की बात हुई कि डोलमा पिता जी के

पास हिन्दी पढ़ने आने लगी। डोलमा लद्दाख की शायद पहिली लड़की है जिस ने आधुनिक युग में पढ़ना आरम्भ किया।

कभी २ पिता जी को किसी हिन्दी शब्द का अर्थ नहीं आता, क्योंकि इस भाषा का उन्हें काम चलाऊ ज्ञान ही था। अरबी फार्सी युग के व्यक्ति जो थे, उस समय वह मुझ से पूछते। तभी एक दिन बरामदे में बैठा था कि डोलमा आई। चार नहीं बजे थे, इस लिए पिता जी निचली मंज़िल में, जहां उन का आफिस था काम कर रहे थे। डोलमा कुत्ते से खेलने लगी। मैं जानता था कि वह समय नष्ट करने वाली लड़की नहीं। मुझे याद था कि लामा प्रायः पिता जी से डोलमा के बारे में बातें करते हुए कहा करते कि जीवन में उस ने कितनी ही लड़कियों को देखा या पढ़ाया था पर डोलमा तो सचमुच डोलमा ही निकली। डोलमा—देव कन्या! संयम और अध्ययन तो उस ने जीवन में उतार ही लिए थे। मैंने पूछा, 'डोलमा, पढ़ लिया?'

'नहीं बाबू जी अभी नहीं आए हैं!'

थोड़ी देर वह मेरे मुंह की ओर तेखती रही। फिर कहा, आप कुछ शब्दों का अर्थ बताएंगे?

'हां हां बैठ जाओ!' और वह सामने बैठ गई। उस दिन मुझे लगा कि मेरी वाणी में वागेश्वरी समा गई। एक-एक शब्द ऐसा निकलता कि मैं स्वयं उस पर मोहित हो जाता था।

एक दिन माता जी ने कहा था कि 'यदि ऐसी लड़की किसी पंडित घर की होती तो मैं इसे बहू बनाती' और मैं शरमा कर भाग गया था वहां से। पर क्यों? मैं हृदय टटोलने लगा, पर कुछ न खोज सका। जब अपने हिय में कुछ भी खोज न सका तो डोलमा के अंतर की बात कैसे जानता। किन्तु मैं यह जानता था कि डोलमा को मेरी चीज़ें और मेरी बातें अवश्य पसन्द थीं। कभी-कभी तो वह मेरी बातें सुनते-सुनते अपने पाठ को भी भूल जाती और मेरा कुत्ता 'ठसी' तो उसे सचमुच प्यारा था। उस दिन 'संकर गुम्पा' में वह

मुझे एक लम्बे हाल में रखी मूर्तियां दिखा रही थी। यह वह दृश्य है जब पापी मनुष्य को नर्क में आग से खेलना पड़ता है। एक संदूक की ओर इशारा करके, यह आपत्तियां और भूत प्रेत हैं जो इस पवित्र संदूक में बन्द करके शहर से दूर ले जाए जाते हैं। और एक अभ्यस्त चिमो की भान्ति मन्त्र पढ़ने लगी, ऊं बंज़र गुरु···
···पद्मा······। मैं कौतुक से उस के मुख को निहारने लगा ही था कि डोलमा की दृष्टि बाहिर द्वार पर कुत्तों के जमघट पर पड़ी। वह बेतहाशा दौड़ी और उन पर जा टूटी। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उस ने उन के बीच से ज़ख्मी कुत्ते 'ठसी' को निकाला। उस दिन वह ठसी से लिपट-लिपट कर खूब रोई। पर कुत्ते के प्रति इस प्रेम को अपने प्रति कैसे मान सकता था? संभव है कि डोलमा का यह सात्विक भाव ही हो।

डोलमा हमारे मकान के पिछले दरवाज़े से ही आती थी। आगे से बाज़ार था और पहिली मंज़िल में डाकखाना होने के कारण बरांवडे पर कुछ लोग होते ही थे। मैं रोज़ चार-पांच बजे वहीं कहीं खड़ा रहता जहां से डोलमा ऊपर आती और जब तक वह न आती सोचता रहता कि उसे आज अपने मन की बात कहूँगा, पर न मालूम उस के आने पर क्या होता कि अभिवादन का उत्तर देने के अतिरिक्त मैं कुछ भी नहीं कह सकता।

लद्दाख से जाने का दिन आया। सब प्रसन्न थे। अपने सगे सम्बन्धियों से मिलने को आतुर थे, पर मुझे न मालूम यह सब कुछ क्यों अच्छा न लग रहा था। पर एक अव्यक्त-सा दर्द, एक अनजान-सी टीस महसूस हो रही थी। जाने के एक दिन पहिले डोलमा का पिता लामा आया था; डोलमा भी आई थी। उस ने माता जी को सामान बांधने में सहायता दी। वह ऐसे काम कर रही थी कि लगता ता कि वह इस घर की ही सदस्या है—एक अभिन्न अंग। उस दिन माता जी की आंखों में भी डोलमा के लिए आंसू आये थे। शाम को वह चली गई। पर जाने से पहिले पिता जी और माता जी के चरण बार-बार छू लिए, छोटी मुन्नी को चूमा। मैं बाहिर बरामदे में खड़ा था। वह बाहिर आई तो कुत्ते ठसी से लिपट गई और दो बड़े-बड़े

गोल मोती उस के नयनकोटों से ढुलक पड़े। पर मेरी ओर उस ने दृष्टि नहीं उठाई, 'जू ले' भी नहीं कहा और चली गई। उस रात मैं सो न सका। करवटें बदलता रहा और हृदय में साहस का संचय करता रहा। प्रातः तक मैंने निश्चय कर लिया था कि डोलमा आएगी तो उसे अपने मन का रहस्य बता दूंगा। कहूँगा कि डोलमा मैं तुम से प्यार करता हूँ।

लेह पर सूर्य की रश्मियां उतर आईं और मेरे चकोर ने 'कू-कू' करना आरम्भ किया। मैं उठा तो घोड़ों पर सामान लद चुका था। बाहिर सौ डेढ़ सौ आदमी खड़े थे। लामा भी आया, पर डोलमा नहीं आई थी। नौ बज गए और हम चल पड़े, पर डोलमा नहीं आई। लेह को हम ने पीछे छोड़ दिया और लोग वापिस चले गए, पर डोलमा नहीं आई। मन कहता था—डोलमा नहीं आएगी······ कभी नहीं आएगी!

उस दिन नीमू पड़ाव पर रात बिताई। हम छः ही बजे वहां पहुँचे इस लिए बीसियों लद्दाखी स्त्रियां हमें देखने आईं। इन लोगों को लम्बी नाक वाले लोग देखने का बड़ा शौक होता है। वह मेरी और मुन्नी की ओर इशारा करके 'बुओं बुछा' (लड़की लड़का) कह-कह कर आलोचना कर रही थीं, पर मेरा मन न लगता था। मैं पास ही बहने वाली नदी के किनारे पर एक बड़े पत्थर पर बैठ गया। सिन्धु महानदी बड़े-बड़े पत्थरों से टकरा-टकरा कर उछल-उछल कर बह रही थी। उस तुमुल नाद में मैं उन चपल धाराओं को देख रहा था कि यही शोर मेरे अन्तर के सिन्धु में भी हो रहा है। मैं सोच रहा था। क्या? नहीं कह सकता। अस्पष्ट अव्यक्त-सी भावनाओं के भंवर में चक्कर काट रहा था कि किसी ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा। देखा तो मुन्नी के हाथ में एक मूर्ति थी—महात्मा बुद्ध की एक सुन्दर-सी मूर्ति। 'आप के सन्दूक में से मां कुछ निकाल रही थी, वहीं मिली उस ने कहा।

पर यह मूर्ति मेरे सन्दूक में कहां से आ गई। लगता था कि कहीं पहिले भी इसे देखा है·········यह वही मूर्ति थी जो डोलमा के

कमरे में हुआ करती थी.........सो क्या यह उसी ने मेरे सन्दूक में डाली—तथागत की यह प्रतिमा.........क्या मतलब हो सकता है इस का ? मेरी आंखों के सामने डोलमा का वह सुन्दर सुडौल मुखड़ा आ गया। जब-जब वह मेरे सामने आती तो स्थिर नहीं रह सकती थी। उसकी आंखें कभी ऊपर उठती ही नहीं थीं और जब उठतीं भी तो शीघ्र ही झुक जातीं......... पर क्या यह सब भावनाओं के अतिरेक के कारण ? मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि डोलमा मुझ से प्रेम करती थी पर वह कह नहीं सकती थी लेकिन क्यों.........किन्तु मैं ऐसा क्यों सोच रहा हूँ ? महात्मा बुद्ध की मूर्ति त्याग, संयम और करुणा का प्रतीक भी हो सकती है। तो क्या इस का अर्थ यही है ? मुझे बुद्ध की प्रतिमा के बीच डोलमा का स्वर सुनाई देने लगा, 'मैं गुम्पे में लामाओं के संग पली लड़की हूँ। मैं जन्मते ही तथागत की शरण गई हूँ ! मैं देवदासी हूँ, भिक्षुणी हूँ। तुम्हारी नहीं हो सकती !'

नन्ही

—रतन लाल 'शान्त'

आज नन्ही कुछ उचटी-उचटी सी मालूम हो रही थी। सवेरे ही लौटी थी और रोज की तरह आज भी वह कपड़े बदलने से पहले चाय मांगने नहीं आई। मेरा सिर तो सुबह से ही चकरा रहा था, नन्हीं को यों देख कर तो मैं उलझ ही गई। न कपड़े बदले, न कपड़ों की कीचड़ ही उतारी। ओठ भी तर, मुख से चिपकी ······और चढ़ रही है कुछ। आज तो अवश्य कुछ घटा है। मैं कौतूहल वश धीरे से जा कर नन्ही के पीछे खड़ी हो गई।

'तुम अब चौंकी, कब की तेरी नज़रें थी मुझ को जीत गईं······।'

मैं इतना ही कुछ पढ़ पाई थी कि पन्ना उल्टा और पुस्तक उल्टी। कवर पर कुछ अंकित था, कवर पलटा। नन्ही आंखें तरेर कर पीछे जो मुड़ी तो मुझे देख कर जैसे बहती धारा में रोड़ा अटक गया हो। रोड़ा लांघने में थोड़ी देर लगी और धारा फिर बह चली। हां, रुख थोड़ा सा बदला। नन्ही के सिहरे हौंठ और तभी भौंहें अवश्य कुछ कह डालती लेकिन जाने क्यों वह कह उठी—

'हूँ! प्यारी! तंग आ गई मैं! आ मार मुझे!'

वह नीचे देखने लगी और मेरी ओर उठ खड़ी हो कर

शायद मुझे दुत्कारने को ही थी कि अनायास ही उसके नथने फूल उठे और एक मुस्कान के साथ अपनी भूल पर पर्दा डालने लगी। मैं मुस्कान की हवा में ज्यादा नहीं झूमी और बराबर उसे आंकती रही। उस के हाथ पीछे थे और वह कुछ छिपा रही थी। वह पीछे से ही पग बढ़ाने लगी और दीवार की ताक के पास पहुंच कर पहले हाथों से किताबों को टटोलने लगी और क्षण भर बाद मेरी ओर पीठ करके उन्हें इखरा बिखरा कर दिया। फिर वह उन्हें नए सिरे से संभालने लगी। यह सब कुछ हो रहा था। उस की दोनों आंखें मुझ पर थीं और मुख पर एक ऐसी मुस्कान जो साफ बनावटी थी। मैं तो चुप चाप खड़ी थी और वह सांप की परकन की तरह जैसे मुझे कोई जादू का खेल दिखा रही थी। दो एक मिनट किताबें संभाल कर एक हंसी और किलक के समेत वह कमरे से फुदक निकली। मेरी ओर तनिक भी न देखा। मैं भी काहे को को पीछे रहती। मुझे विस्मय था ही—साथ ही इस करतब से शक भी बढ़ा। उधर वह निकली और इधर मैंने अंदर से सांकल चढ़ा ली। थोड़ी देर वहीं डटी—प्रतिरोध न होने पर धीरे से पुस्तकों को छांटने लगी, लेकिन कुछ नहीं मिला। दौड़-धूप का फल तो दिखा नहीं, अपने ही ऊपर हंसी आ गई—आखिर मैं ढूंढ क्या रही हूँ जो मुझे मिल नहीं रहा। मेरा लौटने का अगला कदम उठा ही रहा और पिछला वहीं डटा ही रहा जो बाहिर से आई आवाज़ कमरे के शून्य को चीरती हुई किताबों से टकरा गई।

हि ! हि !! हि हि हि !!!

'शक की बीमारी का क्या इलाज ?'

नन्हो बाहिर से हंस रही थी। दौड़ के मैंने सांकल खोल दी। झेंप तो मुझ में आवश्यक थी। मेरी कनपटियां लाल हो रही थीं।

नन्ही मुझ पर हंस ज़रूर रही थी लेकिन मैंने यह भी देख लिया कि उस की हंसती आंखों में भय भी ज़रूर था।

'पाया वहां कुछ प्यारी ?' वह हंस पड़ी जैसे कोई नाज़ुक

कमर चमचमाती सड़क पर केले के छिलके पर फिसली हो सर्रर्रर्र.........।

मैं एक ओर हो रही, लेकिन शक ने एक बार जड़ें पकड़ ही ली थीं, नन्ही को कुछ पढ़ते जरूर देखा था। उस के पीछे से खड़े हो कर एकाध पंक्ति भी पढ़ ली थी......तुम अब चौंकी कब की...।

आंखें तो इतनी छलिया नहीं। खैर.........शायद मैं गलत समझी हूं! नन्ही मेरी बगल से फुसफुसा कर चली गई और फिर शल्फ को सजाने लगी। एक पुस्तक उठाई कि कनखियों से मेरी ओर देखा। खैर–चितवन तो चंचल होती ही है। नन्ही उन्हें बार-बार सजाती। सन्दूक औंधे मुंह लिटाया उस की मैल उठाने लगी। कभी उस के ढक्कन के शल्फों से कागज़ निकालती फिर वहीं रखती। ऐसे कार्य की झिंझोड़ का राज़ मुझ से छिप न सका—मैं कमरे से बाहिर चली।

× × × ×

'कैसी रही वहां?' मैंने एक बार नन्ही से पूछा क्योंकि उस समय नन्ही को आते देख कर मुझे और कुछ न सूझा। इतना तो मैंने अनुभव से ही जान लिया कि सहेली के पास गई है। बात छेड़ने का भी यह गलत अन्दाज़ था।

'बहुत अच्छी", उस ने रुखाई से ही उत्तर दिया। इससे मेरी जिज्ञासा कम कैसे होती? अनुभव तो सही था। बात बढ़ाने के विचार से ही वह मुझे कहने लगी—

'महफिल ऐसी जमी कि क्या कहने! श्यामा थी, अरुण थी. चूनी थी और उस की भावज भी, और उन में से.........' नन्ही इतने ज़ोर से हंसी कि मुझे किसी बच्चे की हवा-भरी बाल के फटने कीभाप आ गई फुस्स्स्स। मेरे प्रश्न से हुए माथे के बल दूर हुए और एक बार फिर दो घनी भौहों के बीच लाल सिन्दूर दमक उठा।

मैं भी हंस के उस से कहने लगी—

'और उन में से…… क्या ? अधूरी बात पर ही लोट-पोट हुई छि !'

'इधर श्यामा का रुआंसा मुंह, उधर चूनी की चिकनी-चुपड़ी बातें और एक ओर से चूनी की भावी के व्यंग……सब उसी पर लगे……हि हि हि……मुझे उस के व्यवहार पर ही नहीं……उस का मौसमी मुख………अजीब से एकालाप के अन्दाज़ में वह कहती आ रही थी कि मैंने बीच में ही उसे टोका—

'वाह ! क्या कहने हैं तेरे ! किसी को कुछ कहने बैठो तो समझ गया वह तुम्हारी बात क्षण-भर में ही………। पगली बात तो करो फिर हंसना, अच्छा ! कहो कौन था ?'

'किरण'—यह कह उठी और उस का मुखड़ा एक दम गम्भीर हो गया और अब मैं मामले में पैठ गई। मैंने उसी अन्दाज़ में उस से पूछा।

'तो सीधे क्यों नहीं कहती कि अरुण के घर गई थी ?'

'अरुण के घर किरण कहां से आ धमका, प्यारी ?'

'उस के रिश्तेदार जो हैं !' मैंने उत्तर दिया।

'हूँ–कह कर वह चुप हो गई। थोड़ी देर बाद अपने आप से ही कहने लगी, 'मुंह-सिकोड़ तो मुझे एक दिखा—यही किरण !'

'तुझे जानता है क्या ?'

'नहीं, मुझे क्या है—काहे का ?

मैं तो अब सर्वथा उलझ गई। जाल की रस्सियां मेरे ही सामने बुनी जा रही थीं और मेरे ही लिए उसका ओर छोर करना बस की बात नहीं रही। मैं तो टकटकी लगाए नन्ही की ओर देख रही थी जिस की अंग भङ्गिमा क्षण प्रतिक्षण बदल रही थी। वह जैसे अपने ही साथ कहे जा रही थी—

'श्यामा पुचकारती तो बच्चों सा मुंह बना लेते !'

मैं चुप रही !

'चूनी की भावज की लल्ले-चप्पो तो उसे एक दम अखरतीं'

नन्ही लगातार कहे जा रही थी—

'चूनो का घिगापना राग तो उसे लुभा के भी न लुभा सका…'

'क्या कह रही हो'—मैंने बीच में ही उससे पूछा !

अपनी नज़र उस ने अपनी खेलती हुई अंगुलियों पर जमाई थी—मेरी ओर आ कर वह कह उठी—

'आं आं, मुझ से तो बात भी नहीं की ! प्यारी, किरण क्या कर रहे हैं ?'

मैंने पूछा कुछ था और इस तरह उसे अपने ही साथ बातचीत करते देख कर मैं सहमने लगी। मैंने उसे झिंझोड़ा—

'होश में आ नन्ही ! मैं तुम से क्या पूछ रही हूँ और एक तुम हो कि कुछ सुनती ही नहीं !'

'हूँ ! तुम नाराज़ हो गई प्यारी ! मेरी प्यारी बहिन ! मेरी तरफ देख, ना। अच्छा, तुम किरण को जानती हो ना ?

'हां हां, जानती क्यों नहीं ?'

'मुझे दिखाओ ना कहां रहते हैं ?'

'ओ ! क्या करोगी उस का घर जान कर ?'

'लौटा दूंगी उन्हें उन की किताब !'

'कौन-सी किताब ?'

मेरे इस प्रश्न पर वह तत्क्षण चौंक उठी—'न प्यारी, न प्यारी, बात यह है कि वहां महफिल खूब जमी थी। सभी थे। मैंने तो पहले

ही सुना था कि किरण कविता रचते हैं। सो चूनी से कहलवाया सुनने के लिए। उधर वह गीत सुना रहे थे कि उन की कविताओं की कापी कहीं खो गई !'

'हूँ ! तो यह बात है ! तो तू ने खुद ही उनसे क्यों नहीं कहा कि उन की किताब तेरे पास है ?'

लेकिन उस ने मेरी बात को अनसुना कर दिया। वह तो कहने लगी—'मैं क्यों कहती ? मुझे ही क्या पड़ी थी ? न सुनाते तो मेरी बला से ! इस पर मैं हंसी रोक न सकी !

'तू हंसती है प्यारी !' जबड़े समेटे—'देख प्यारी ! तू न समझ कि मैं उन को······अ······अ······नहीं देखना मुझे उन का घर, बस !'

उस ने मुख फेरा !

'तू तो आप ही सब कुछ कह देती है नन्ही ! और उल्टे मुझे डांटने पर उतारू !'

'नहीं कहती, नहीं कहती मैं फिर क्या हुआ !'

'तो तेरी चेरी कौन है जो तेरी बकवास सुनती रहे !'

'हूँ !' कह कर नन्ही ने अपने दोनों हाथ जोड़ कर उस ने अपने घुटनों में डाल दिए और ऊपर की ओर देखने लगी। मैंने भी चुप्पी साधी क्योंकि मुझे विश्वास था कि और कुछ जानने के लिए मुझे नन्ही से कुछ पूछना नहीं पड़ेगा। वह सब कुछ आप ही कहेगी। स्रोत को जब ताब नहीं रहती तो पृथ्वी के कठोर तल को भी फांदता है। कोई भी विशेष घटना घट जाती तो उस की प्रतिक्रिया नन्ही के हृदय में स्वयं ही प्रश्न और उत्तर के रूप में प्रकट होती है। बहुत दिन हुए मैंने किरण को देखा था। किरण की असामान्य झलक नन्ही को अछूता छोड़ने की नहीं, यह आशा मुझे थी ही लेकिन ऐसा होते भी नन्ही मुझे कुछ न कहे, यह भी तो हो सकता था। बड़ी बहन जो ठहरी। मगर मेरी समझ में दो बहनें दो भाईयों से

ज्यादा हमराज़ होती हैं। हमारा जोड़ तो अधिकतर मां की मृत्यु से गुंथा है। वात्सल्य मानव का सिंचन है और मानव हृदय सदा इसी की तलाश में रहता है। वृक्षों की जड़े प्राकृतिक नमीं के न पाने पर जीने की आस नहीं छोड़ती। भविष्य की अस्पष्टता तक एक ही जड़ की दो शाखें एक दूसरे से लिपट कर ही स्नेह पाती हैं।

'बहन ! मैं भी वोकल सीखूंगी' एक बार नन्ही मुझ से कह रही थीं।

'ओ हो! आज कैसे ऐसी सूझी ? पहले तो संगीत को निकम्मा बता रही थी।'

'मुझे फिल्मी गीत थोड़े ही गाने हैं। थोड़ी देर चुप रह कर वह फिर कह उठी—आज किरण ने कैसे अच्छे गीत गाए !'

नन्ही को इस बार चिढ़ाने की मुझे नहीं सूझी ! मैंने बात का बतंगड़ा होने नहीं दिया। मैंने केवल इतना कहा—

'किरण तो अपने गीत गाता है, तो उस की सुरीली तान का कुछ मोल है। तू क्या गाएगी ?'

'मैं भी उन्हीं के गीत गाया करूंगी !'

इस बार भी मैं चुप ही रही। यह कह रही थी—

'और किताब भी वापिस कर दूंगी !'

'हां ढूंढ़ रहे होंगे।' मैंने उसे कहा और बाहिर चली।

× × × ×

दिन को तो मैं कभी नहीं सोती, पर आज तो सो ही गई। जगने पर मालूम हुआ कि घण्टा भर सोई थी। अवशता पर क्रोध भी आया। सामने नन्ही को न पाकर उठ खड़ी हुई। उसे मैंने बरामदे में खड़ी पाया—यह जंगले के ऊपर से बाहिर सड़क की ओर देख रही थी। ओढ़नी के बिना और नंगे पांव थे उस के। मैं उठी और मौका ग़नीमत जाना कि इस वक्त नन्ही की किताबें

देखी जाएं। मेरी नज़र एक कापी पर गई जिस के खुल्ले पन्ने पर बहुत कुछ भरा था। तस्वीरें, दस्तखत......अंग्रेजी, हिन्दी में अपना नाम—और उस के इलावा कई शब्द इधर उधर मिले। किताबों के पृष्ठों पर कभी कबार पर शब्द लिखे मिले—किरण, किरणी, रश्मि, कविता, गीत, प्यारी क्या कहेगी, प्यारी क्या कर सकती है, बिखरे पन्ने, गीले आंसू......ऐसा कुछ और पढ़ कर मैं उठ खड़ी हुई। दत्तचित्त नन्ही को पुकारने की हिम्मत न पड़ी, इस लिए पीछे से धीरे से उस का पल्लू खींच लिया। वह उछल पड़ी—

'अरीरी! अभी सपना ही देख रही है क्या?' उसने कहा! मैं मात्र मुस्काई। वह कह रही थी—

'कितना जगावा होता है मुझे, जो कसर पूरी करती है?

'नहीं ऐसे ही झपकी सी आने को थी।'

'हां-हां आने को थी। आती तो घण्टों पीछा करती।

हम दोनों हंस पड़ीं। मैंने उस की चुटकी ली—

'तुम्हें जगावा हो तो किसी के लिए! हमें काहे का, जी?

इस बार नन्ही झिझकी नहीं, चुप चाप मुस्काने लगी, जैसे कि मैंने उस का वांछित भाव कह डाला हो। मैंने बाहिर देखा तो किरण को किसी से बातें करते देखा—सड़क पर। मेरा मन प्रफुल्लित हो उठा कि अब नन्ही क्या छिपाए गी। नन्ही मात्र सुर्ख पड़ गई. मगर उस की धीरता लुप्त नहीं हुई थी। किरण तो खड़ा था, मुझे देख कर भी उस में लौटने के चिन्ह नहीं दिख रहे थे। मैंने नन्ही की ओर देखा और उसे इशारा किया कि चल अन्दर चलें। नन्ही मेरे आगे हो ली!

शायद नन्ही की आंखें उसी बिखरे पन्ने पर गई हों। लपक कर वह मेरे पीछे आ गई और आगे से मेरे पार आने का रास्ता रोक लिया।

'तू ने······तू······तुम।'

'हां हां मैंने ही—चल हट मुझे पार जाने दे !'

'मेरी प्यारी बहिन ! देख किरण मुझे रोज़-रोज़ घूरता क्यों है ?' बड़े मासूम लहजे में उस ने मुझ से पूछा।

'उसे कुछ दीखता होगा। और क्या ?'

'मैं नहीं चाहती, बहिन जी।'

'लेकिन वह चाहता होगा !' उस की वेतुक से मैंने अपनी तुक मिलाई।

'तुम कहो ना उन्हें !'

'मैं क्यों कहने लगी ? तू भी चाहती है, वह भी चाहता होगा !'

'मैं क्या चाहती हूँ ?'

'मुझे क्या मालूम ?'

'देखो बहिन ! मेरी प्यारी बहिन ! किरण कितना प्यारा है !'

'हां।'

'तुम बुरा तो नहीं मानती ?'

'मेरे बुरा मानने न मानने से क्या होता है ?'

'फिर क्या ?'

'पिता जी को भी तुम्हें कहना चाहिए ना—सीधे शब्दों में !'

इस कल्पना से नन्ही थर्रा उठी। पिता जी का हम पर जो प्रभाव है, यह नियन्त्रण ही कहा जा सकता है। नन्ही की सभी बातें जो तरल थीं, अब पथरा गयीं। उस के शरीर पर जैसे एक धमाका रसीद हुआ हो। वह रूढ़ि कैसे लांघ सकती है—इतनी भोली, मासूम लड़की ! पत्थर की लीक ! जहां पिता जी की ज़ूबां ही हद हो वहां

भावात्मकता या मस्तिष्क की दौड़ का क्या मूल्य ?

नन्ही की भीरुता का आभास मुझे अब हुआ। मैं एक सहृदया बहिन हो कर भी कुछ न कर सकी, इस का मुझे खेद नहीं। वातावरण की उपज मनुष्य है। मैं इस कमजोरी पर कुढ़ती हूँ; लेकिन भीतर कुढ़ने से क्या लाभ ?

नन्ही बैठी हुई किसी किताब के पन्ने उलट रही थी। मुझे सामने देख कर किताब बन्द की और दृढ़ नजरों से मुझे ताकने लगी। उस की पलकें तर थीं—

'किरण का रवैया कैसा है प्यारी !' मुझ से वह उसी तरह कहने लगी जैसे कि मैं ही किरण हूँ। मैं चुप थी। वह कहती गई—

'क्या तुम चाहती हो, मैं कहीं की न रहूँ ? और किरण भी यही चाहता है क्या ?'

नहीं तो !' मेरा संक्षिप्त उत्तर था।

'बहिन !' वह रोने लगी—'न मुझ से कभी किरण मिला ही और न ही मुझ से उस की एक बात भी हुई। इस पर भी वह निराधार भवन क्यों बनाए जा रहा है ?'

देखो छोटी नन्ही, बिन बरखा के कीचड़ कैसी ?'

उस की सांसें तेज़ हो रही थी।

'कही हुई बात नहीं लौटती नन्ही।'

'सहानुभूति प्रेम नहीं हो सकती प्यारी !'

'सहानुभूति !' मैंने उस से कहा—'किरण कोई अनाथ है कि तुम उसे सहानुभूति दिखा रही हो। नन्ही, तुम अपने को छल रही हो ! साफ़ क्यों नहीं कहती ? मुझ से छिपाना क्या ?'

दिन ढला, रात ढली, दिन ढले, रातें ढलीं। मुझे दिख रहा था कि नन्ही शायद किसी भावी घटना के लिए अपना पथ साफ कर

रही थी। एक दो दिन में पिता जी आ रहे थे। एक दिन मैंने अनायास ही सुना कि नन्ही अपने साथ कुछ गुनगुना रही थी कि प्यारी ने राई का पहाड़ बना दिया!

काश वह मुझे समझ पाती। शायद मैं उस की सहायक ही रहती। शायद उसे यह भय हर समय लगा रहा कि कहीं मैं उस की बात घर वालों तक न पहुँचाऊं, और शायद मेरे प्रयत्न करते रहने पर भी उस ने अपनी एक प्रबल वाञ्छा का गला घोंट दिया।

× × × ×

पिता जी आ गए तो नन्ही का व्यवहार पहले जैसा चलने लगा। किसी को सन्देह छू भी नहीं गया था। नन्ही भी किसी और से या कभी मुझ से ही इस बात का ज़िक्र भी न करती। शायद अब पहले की तरह किरण का ज़िक्र करते हुए नन्ही के मन में पिता जी के हर कहीं उपस्थित रह कर उस की बात सुनने का आभास हो रहा था। यों भी कभी-कभी बात-बेबात पर भी नन्ही मुझ से कह बैठती— 'आवेश में मनुष्य अन्धा हो जाता है!' या 'कल्पना के पर होते हैं!'

× × × ×

किरण अगली पढ़ाई के लिए बाहिर जा रहा था. यह बात मुझे मालूम हुई। नन्ही के सामने मैं कैसे कहती क्योंकि कई दिन से नन्ही ने यह बात ही जैसे कि गायब कर दी हो। लेकिन आज मैंने सुना कि वह चला भी गया!

मैं नन्हीं के पास गई।

'किरण से मिलने गई थी कल!'

'देख प्यारी, मुझे ज्यादा न चिढ़ा। मैं कुछ नहीं सुनना चाहती, चल हट मेरा पीछा छोड़।' और सचमुच उस ने अपने दोनों कानों में उंगलियां डाल दीं! मैंने कहा—

'अरी! मैंने तो यों ही कहा। वह आज चला गया ना, इस लिए!'

इस पर वह लपकी—'कहां ?'

'कहीं आगे पढ़ने ! मुझे मालूम नहीं कहां !'

नन्ही फक पड़ गई। उस का रूखापन आज एक दम झलक पड़ा ! वह चकराने लगी, और लड़खड़ाते हुए लौटी।

नन्ही की मनस्थिति मैंने भांप ली। काम से निपट कर ज्यों ही मैं उस के कमरे की ओर जाने लगी तो नन्ही को औंधे मुंह रोते पाया, धूल से लथपथ और शायद बेहोश भी !

एकांकी

[illegible]

नयनाहुति

—गोपीनाथ कौशिक

सीन १

[राजमहल में राजकुमार कुणाल तथा कांचनमाला]

(वाद्य संगीत की धुन उभरती है)

(कांचन पीछे से आ कर कुमार की आंखें बन्द करती है)

कुमार : अरे भई छोड़ो, कौन है? ओहो·····छोड़ो भी ?··· ··· पहचान गया हूँ······एक ही स्पर्श से······अब परेशान मत करो······ओहो छोड़ो भी न ?······अच्छा हार गया। अब छोड़ दो······।

कांचनमाला : (ज़ोर से हंसते हुए) अच्छा, लो·····अब बताओ पहचाना था कि नहीं ?

कुमार : सच कहूँ कि झूठ ?

कांचन : जो जी चाहे।

कुमार : सच सच बताओ।

कांचन : कहा जो ?

कुमार : क्या ?

कांचन : यही कि सच सच बताओ ।

कुमार : (खोज कर) क्या ?

कांचन : पहचाना था कि नहीं ?

कुमार : नहीं ।

कांचन : वाह खूब रही । बड़े बनते हैं ।.....एक ही स्पर्श से पहचान गया हूँ ।

कुमार : जब एक बार कह दिया था, तो फिर पूछने वाली कौन सी बात थी भला इस में ?

कांचन : यों ही जी चाहा तो...... ।

(दोनों हंसते हैं)

कुमार : क्या तुम्हें इस में भी सन्देह है कि मैं तुम्हारा स्पर्श होने पर तुम्हें पहचान सकूंगा ?

कांचन : पुरुषों का भला क्या विश्वास

(हंसती है)

कुमार : हां, हां, दर्पण में तो मुख अपना ही दिखाई देता है न ?

कांचन : नहीं, ऐसी बात नहीं ।......परन्तु...... ।

कुमार : हां हां, कहो, रुक क्यों गईं ?

कांचन : सौन्दर्य में बड़ा आकर्षण है नाथ । इस के सम्मुख बड़े बड़े आदर्शवादी भी पिघल जाते हैं ।

कुमार : तुम्हारा तात्पर्य ?

कांचन : कुछ नहीं.....कल रात का स्वप्न मुझे...... ।

कुमार : पगली······स्वप्न भी कभी सत्य होते हैं ?

कांचन : माता असंधिमित्रा के देहान्त के पश्चात् महाराज जैसे आदर्शवादी राजा भी जब इस वृद्धावस्था में······।

कुमार : ओहो······तुम क्या विषय ले बैठी हो आज·····बड़ों की आलोचना नहीं किया करते ······।

कांचन ! बड़ों की आलोचना नहीं किया करते। पिता जी ने बुद्ध भगवान के सत्य और अहिंसा के उपदेश को अपना कर जितना उपकार जनता पर किया है उस का सम्मान आने वाली सन्तान ही करेगी।

कांचन : यह तो सत्य है प्राणनाथ !

कुमार : अरे अरे·········ज़रा देखो तो सही कितना अद्भुत दृश्य है ?

कांचन : आकाश पर भी आंख मिचौली खेली जा रही है······ अरे······रे······रे···देखिए मेघ ने उसे अपने आलिंगन में ले लिया।

कुमार : कितना सुन्दर दृश्य है ?

कांचन : लो, फिर वह भाग रहा है।

कुमार : काश मैं बादल होता और तुम चांद !

कांचन : (जल्दी से) चलिए हटिए, आप को बस······।

कुमार : यही कुछ सूझता है ना ?

कांचन : और क्या ······जब देखो, यही प्रसंग लेबैठते हैं।

कुमार : प्रिये, प्रेम के बिना और मेरे पास है भी क्या जो तुम्हें उपहार में दे सकूं।

कांचन : जब अपना प्रेम मुझे दिया है तो महाराज की तरह

किसी और को न दे बैठना नाथ !

कुमार : ऐसी धारणाओं को हृदय में स्थान मत दो। कुणाल आजीवन तुम्हारा ही रहेगा, इस में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता।

कांचन : परिवर्तन तो प्रकृति का नियम है नाथ। यदि यह न हो तो जीवन नीरस हो कर रह जाये।

कुमार : तो फिर तुम यही चाहती हो ना ?

कांचन : चलिए हटिए, यहां तो बात करने की भी आज्ञा नहीं।

कुमार : रुष्ट हो गई ? कांचन इधर देखो, इधर देखो केवल एक बार।

कांचन : मुझ में इतनी समर्थ नहीं कि इन नैनों से नैन मिला सकूं !

कुमार : वे नहीं देखती, अच्छा तो लो मैं चला।

कांचन : (जल्दी से) नाथ········· ?

(दोनों हंसते हैं)

सीन २

(महारानी तिष्यरक्षिता का राज महल)

दासी लता : नमो बुद्धाय।

रानी : कौन ?

लता : राजकुमार पधार रहे हैं महारानी जी !

रानी : कुमार ! सादर ले आओ। (दीर्घ निश्वास खींचते हुए अपने आप से)

कुमार : (आ कर) प्रणाम माता जी।

रानी : आओ कुमार। (दासियों से) तुम लोग जाओ (आओ आओ) इधर बैठो।

कुमार : यहीं पर अच्छा हूँ!

रानी : नहीं नहीं, मेरे समीप आओ।

कुमार : (समीप आते हुए) अच्छा लीजिए, कहिए क्या आज्ञा है?

रानी : कुछ भी नहीं!

कुमार : कुछ भी नहीं? आप ही ने तो·········।

रानी : हां हां, मैंने ही बुलाया है।

कुमार : आज्ञा कीजिए?

रानी : आज्ञा? आज्ञा कुछ नहीं, बस तुम्हें देखने को जी चाहा।

कुमार : ओ, मुझ पर इतनी कृपा? मैं इस का पात्र भी हूं?

रानी : मेरे हृदय से पूछो कुमार!

कुमार : मां के प्रेम से मैं सदा वंचित रहा हूँ।

रानी : मां का प्रेम? कुमार········?

कुमार : जी!

रानी : मेरी एक बात का उत्तर दो?

कुमार : आज्ञा कीजिए!

रानी : प्यास आत्मा को लगती है या शरीर को?

कुमार : शरीर द्वारा आत्मा को!

रानी : और आत्मा किस का स्वरूप है?

कुमार : ईश्वर का !

रानी : यदि ईश्वर की कोई इच्छा हो तो ?

कुमार : तो ? तो उत्पन्न होने से पूर्व ही पूरी हो जानी चाहिए !

रानी : (हंसते हुए) यह खूब रही, देखो कुमार ऐसे मत देखो।

कुमार : कैसे ?

रानी : ऐसे ही, जैसे तुम देख रहे हो !

कुमार : (हसते हुए) तो लीजिये मैं नेत्र बन्द किये लेता हूँ।

रानी : नहीं नहीं, यह नेत्र खुले रखो कुमार, खुले रखो, और मेरी ओर देखते रहो। काश मैं भी तुम्हें आजीवन देखती रहूँ।

कुमार : आज्ञा हो तो चरणों में ही उपस्थित रहा करूं ? जब से माता असन्धिमित्रा का देहान्त हुआ है आप ने भी तो आज ही……… !

रानी : एकान्त में बुलाया है………यही ना ? जब तुम स्वयं ही नहीं आते तो फिर ?

कुमार : सूचना मिलने से पहले ही हम दोनों आप के दर्शनार्थ आने की सोच रहे थे परन्तु……… !

रानी : कारणवश न आ सके आखिर मैं पराई हूँ ना ?

कुमार : यह आप क्या कह रही हैं ?

रानी : रानी नहीं, कुछ नहीं……न जाने मुझे क्या हो गया है कुमार……मुझे कुछ ऐसा लगता है जैसे पूर्व जन्म में हम दोनों एक साथ रहे हों।

कुमार : इस जन्म में भी तो विधाता ने एक साथ ही रहने का अवसर दिया है। परन्तु……।

रानी : परन्तु, परन्तु क्या कुमार ? एक बार फिर कहो ना ?

कुमार : क्या माता जी ?

रानी : यही कि विधाता ने फिर एक बार साथ रहने का अवसर दिया है।

कुमार : हां......हां......सत्य तो यह है माता जी।

रानी : कुमार, माता केवल एक ही हो सकती है जिस ने जन्म दिया हो।

कुमार : इस से मैं भी सहमत हूँ।

रानी : मुझे इसी उत्तर की प्रतीक्षा थी। यही तो मैं भी चाहती थी कुमार।

कुमार : परन्तु।

रानी : परन्तु ? परन्तु क्या ?

कुमार : परन्तु पदवी का भी तो ध्यान रखना पड़ता है माता जी।

रानी : अर्थात्।

कुमार : अर्थात् आप को माता जी का स्थान प्राप्त होने के नाते मेरा भी धर्म......।

रानी : (जल्दी से) धर्म की बात जाने दो कुमार। धर्म किस ने पहचाना है ?

कुमार : परन्तु पहचानने का प्रयत्न तो करना ही चाहिये ना ? तभी उस की रक्षा हो सकती है, और यदि उस की रक्षा की जाये तो वह भी रक्षा करता है।

"धर्मो रक्षति रक्षितः"

रानी : तुम तो बस धर्म अधर्म, पाप और पुन्य के फेर में पड़

गये। जिस पर बड़े-बड़े धर्मिष्ठ भी कभी-कभी विचार नहीं करते।

कुमार : विचार तो अवश्य करते होंगे। परन्तु अपनी दुर्बलताओं के कारण सत्य पथ पर चलने का साहस नहीं करते।

रानी : मैं तो समझती हूँ कि पाप और पुन्य की उत्पत्ति का कारण केवल हमारी दुर्बलतायें हैं। नहीं तो इन दोनों का अस्तित्व कुछ भी नहीं।

कुमार : आप की धारणा तो मानव समाज में एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, तब मानव हृदय में चरित्र निर्माण के लिये उत्सुकता तथा श्रद्धा ही लोप हो जाएगी। और यदि ऐसा हो जाये तो इतिहास ही बदल जायेगा।

रानी : बदलने दो। संसार छूटने पर कौन देखने आता है कि क्या हो रहा है, वर्तमान की बात करो कुमार। भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है कौन जाने? ...... एक बात और पूछूं?

कुमार : अवश्य पूछिये।

रानी : प्रेम करना बुरा तो नहीं?

कुमार : यदि इस में वासना का मिश्रण न हो तो।

रानीं : और यदि वासना का अंकुर भी फूट चुका हो तो?

कुमार : तो नैय्या भगवान के सहारे तूफान में उतारी जाये, उस की इच्छा होने पर ही पार लग सकती है।

रानी : (गहरा सांस लेती है सोच कर) कुमार, एक बात कहूँ।

कुमार : कहिये।

रानी : यदि मेरी आत्मा, मेरा यह स्थूल शरीर तुम्हें किसी और रूप में ग्रहण करना चाहे तो?

कुमार : किसी और रूप में ?

रानी : हां, (जल्दी से) हां, किसी और रूप में।

कुमार : किस रूप में।

रानी : तुम नहीं जानते ? इतने भोले हो ?

कुमार : (जल्दी से) समझ गया, बताऊं ?

रानी : (उत्सुकुता से) हां, हां, बताओ।

कुमार : भाई के रूप में।

कुमार : नहीं।

कुमार : देवर।

रानी : नहीं।

कुमार : तो फिर बाकी रह ही क्या गया ?

रानी : तुम्हारे लिये कुछ नहीं, लेकिन मेरे लिये सब कुछ।

कुमार : सब कुछ ?······क्या ?

रानी : कुमार, मेरे हृदय में एक ज्वाला सुलग रही है, उसे तुम्हारे बिना कोई भी शान्त नहीं कर सकता।

कुमार : मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा, मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा।

रानी : मेरे नैनों में झांक कर देखो कुमार······क्या तुम्हें इन में कुछ भी दिखाई नहीं देता ? क्या इन में तुम्हें एक प्यासा हृदय तड़पता दिखाई नहीं देता, कुमार······।

कुमार : तड़पता हुआ हृदय, प्यारी आंखें······हां हां माता की आंखें सदा पुत्र के दर्शनार्थ प्यासी ही रहती हैं।

रानी : इतने भोले न बनो कुमार·····मेरे वक्षस्थल में एक स्त्री का हृदय है, तुम्हारे नैनों द्वारा घायल हृदय······।

कुमार : मैं यह क्या सुन रहा हूँ माता जी·····मैं यह क्या सुन रहा हूँ·····मेरी अग्नि परीक्षा तो नहीं हो रही ?

रानी : अग्नि परीक्षा ? अग्नि परीक्षा तो मेरी हो रही है कुमार·····मेरी हो रही है, इतने कठोर न बनो··· ···मत बनो इतने कठोर·····मत बनो······।

कुमार : माता जी मुझे पथ से विचलित मत कीजिये, मैं असमर्थ हूँ······।

रानी : इस प्रकार मुझे निराश मत करो, मेरे जीवन को अशांत मत करो। कुमार तुम नहीं जानते मेरे यह चार वर्ष कैसे बीते हैं।

कुमार : ऐसा मत कहिये, आप को यह कहने का कोई अधिकार नहीं, कोई अधिकार नहीं। क्या हमारा धर्म, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति इस की आज्ञा देती है ?

रानी : तर्क की कसौटी पर तो शायद तुम्हारी बातें खरी उतरें, परन्तु वास्तविकता कुछ और कहती है कुमार, मुझे निराश मत करो।

कुमार : नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता माता जी, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

रानी : ऐसा कभी नहीं हो सकता ? अपने निर्णय पर विचार कर लो कुमार।

कुमार : मैं असमर्थ हूं माता जी।

रानी : मुझे निराश करके तुम अच्छा नहीं कर रहे कुमार।

कुमार : यह तो भगवान ही जानते है, परन्तु।

रानी : परन्तु? परन्तु का उत्तर समय देगा। तुम ने मुझे पहचाना नहीं।

कुमार : ज़रा संभलिये माता जी, ज़रा संभलिये।

रानी : (गम्भीरता से) सम्भल चुकी हूँ......मेरा उपहास करके कहते हो सम्भलिये, युवराज पद का इतना अहंकार।

कुमार : इस क्षण भंगुर संसार में मेरे जैसे व्यक्ति के लिये अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं माता जी, अहंकार तो मूर्खों की सम्पति है।

रानी : कहने को जो भी कहो, लेकिन तुम्हें इस व्यवहार का मूल्य चुकाना पड़ेगा।

कुमार : आप की प्रत्येक आज्ञा शिरोधार्य होगी माता जी।

(जाता है)

रानी : (स्वगत) कुमार चला गया।

रानी : यह तुम ने अच्छा नहीं किया कुमार.........अच्छा नहीं किया, तुम ने मेरी शक्ति का ठीक अनुमान नहीं लगाया......''नारी हृदय को तुम क्या जानो?...... ...तुम यह नहीं जानते प्रेम किया नहीं जाता, हो जाता है। यह रङ्ग-रूप जाति तथा अवस्था कुछ नहीं देखता......मेरा अपमान कर के तुमने हिमालय से टक्कर ली है.........तिष्य रक्षिता कोई साधारण स्त्री नहीं.........तुम्हें इसका मूल्य चुकाना होगा? इसका मूल्य चुकाना ही होगा कुमार।

सीन ३

(राज महल)

(उपस्थित महाराज अशोक और अग्रामात्य राधा गुप्त)

अशोक : नमो बुद्धाय.........अग्रामात्य ।

राधा गुप्त : महाराज ।

अशोक : स्थिति तो बड़ी चिन्ताजनक है, तक्षशिला प्रान्त के निवासी पुनः उपद्रव करने में संलग्न हों और हमें पहले सूचना भी न मिले । हमारा गुप्तचर विभाग सो रहा है क्या ?

राधा : नहीं महाराज ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु अब की बार बड़े अद्भुत ढंग से उपद्रव होने की सूचना मिली है सम्राट् ।

अशोक : बार-बार उपद्रव, आखिर इस का कारण क्या है ?

राधा : कारण कुछ समझ में नहीं आता महाराज, अजीब उलझन है !

अशोक : मैं तो समझता हूँ कि स्थानीय अधिकारी ही प्रबन्ध ठीक नहीं चला रहे होंगे, कहीं वह जनता की सेवा को भूल कर गर्वोन्मत्त तो नहीं हो गये ?

राधा : कुछ कहा नहीं जा सकता महाराज, जो नीति आप ने कलिंग विजय के पश्चात् अपनाई है, उस पर विद्रोहियों को भी मित्र बन जाना चाहिए था ।

अशोक : हो सकता है, अधिकारी जनता को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहे हों, जब तक जनता असन्तुष्ट न हो जाय तब तक विद्रोह कभी जन्म नहीं लेता ।

राधा : राजधानी से अधिक दूरी पर होना भी इस का कारण बन सकता है महाराज।

अशोक : हो सकता है, परन्तु इतना प्रबल कारण नहीं......
...अग्रामात्य......अत्याचार, अन्याय, स्वतंत्रता में हस्त क्षेप, ढीला शासन प्रबन्ध। यही बातें किसी राज्य की जड़ों को खोखला करने का कारण बन जाती है। वहां भी कहीं ऐसी बात न हुई हो, इस की मुझे चिन्ता है।

राधा : अब आप ने क्या निर्णय किया है, आज्ञा कीजिये।

अशोक : किस बारे में ?

राधा : विद्रोह शान्त करने के लिये, आज्ञा हो तो सेना भेजी जाये।

अशोक : नहीं, हम स्वयं जायें, और इस के पश्चात्।

राधा : यदि अपराध क्षमा हो तो एक प्रार्थना करूं महाराज।

अशोक : हां, हां, क्यों नहीं कहिये।

राधा : विद्रोहाग्नि से तापित अथवा क्रोधित जनता महाराज का उचित स्वागत कर सकेगी, इस में मुझे सन्देह है, आप के स्वयं जाने का निर्णय कहां तक नीति संगत है, यह मेरी अल्प बुद्धि समझने में असमर्थ है।

अशोक : तो आप वहां सेना द्वारा ही शासन को दृढ़ बनाना चाहते है, शस्त्रों से ही विद्रोह का दमन चाहते हैं।

राधा : लोहे को लोहा ही काटता है सम्राट्, विद्रोहियों का जब तक बल पूर्वक दमन न हो तब तक वे प्रेम अथवा शान्ति का सन्देश कहां सुन सकेंगे।

अशोक : युद्ध और दमन की नीति से समस्या सुलझने के बजाये उलझ जाती है अग्रामात्य, यदि युद्ध जीत भी लिये

जायें तो भी कई समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं, जो वास्तविक समस्या से भी कई गुना भयंकर होती है।

राधा : सत्य है महाराज, परन्तु……।

अशोक : परन्तु क्या ?

राधा : परन्तु राज नीति समस्या के उलझने के भय से कर्तव्य पथ से विमुख होने की आज्ञा नहीं देती महाराज।

अशोक : कर्तव्य पथ से हम विमुख नहीं हो रहे अग्रामात्य, मेरा विश्वास केवल अहिंसा और प्रेम का रास्ता अपनाने में ही है, जनता के हृदय से जिस नीति का सम्बन्ध हो वही नीति चिरस्थाई सिद्ध होती है।

राधा : इस में कोई सन्देह नहीं महाराज, परन्तु जब तक मस्तिष्क किसी को ग्रहण न करे हृदय कभी द्रवित नहीं होता अन्नदाता।

अशोक : फिर भी प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।

राधा : आप का स्वास्थ्य इतनी लम्बी यात्रा सहन कर सकेगा महाराज ? क्यों न राजकुमार कुणाल को अवसर दिया जाये ?

अशोक : राजकुमार को ? नहीं, अभी नहीं, अभी उसे राजनीति का इतना अनुभव नहीं, हम स्वयं जायेंगे।

राधा : जो आज्ञा महाराज।

सीन ४

(महारानी तिष्य रक्षिता का राज पहल)

दासी कला : महारानी जी, महारानी जी !

रानी : क्या है कला ? घबराई सी क्यों हो ?

कला : तक्षशिला में विद्रोह फूट पड़ा है महारानी जी।

रानी : विद्रोह फूट पड़ा है, (धीरे से) तभी महाराज को आने में देर हो गई है।

कला : मुझे तो यह भी पता चला है कि महाराज के स्वयं वहां गये बिना विद्रोह की ज्वाला शान्त होने की नहीं।

रानी : महाराज को स्वयं वहां जाना पड़ेगा ?

कला : आप रुष्ट न हों तो एक प्रार्थना करूं ?

रानी : जल्दी से बात किया करो ना ?

कला : यदि ऐसी बात हो तो महाराज के स्थान पर कुमार को भेजने का सुझाव रखें, आप की इच्छा भी……।

रानी : कला तुम ठीक कहती हो, उसी को भेजूंगी।

(महाराजा अशोक आते हुए)

अशोक : किस को भेजोगी, कहां भेजोगी महारानी ?

कला : महाराज।

रानी : नहीं……कुछ नहीं। ऐसे ही……यहां प्रतीक्षा में बैठे बैठे व्याकुल हो रही थी महाराज…… (कला से) कला तुम कुमार को बुला लाओ।

कला : जो आज्ञा महारानी जी !

अशोक : प्रिये, तक्षशिला के प्रान्त निवासी विद्रोही हो रहे हैं। प्रातःकाल मैं स्वयं वहां जाना चाहता हूं।

रानी : आप ? स्वयं जाना चाहते हैं ? मैं… मैं यहां जीवित रह सकूंगी ? नहीं……आप का वियोग नहीं सह

सकूंगी महाराज !

भशोक : वहां आगे भी विद्रोह हो चुका है। मैं स्वयं जा कर इस का मूल कारण जानना चाहता हूं।

रानी : पहले तो विद्रोहाग्नि शान्त हो तो फिर मूल कारण भी जाना जा सकता है महाराज। सेना द्वारा विद्रोह शान्त किये जाने के पश्चात् आप जायें तो ठीक होगा !

अशोक : कलिंग विजय पर मेरी शपथ भूल गई क्या ?

रानी : अर्थात् अहिंसा के मार्ग पर चल कर समस्याओं को सुलझाना .... !

अशोक : वही सत्य का मार्ग है प्रिये। इसी मार्ग को अपनाना मेरे जीवन का लक्ष्य है, और मेरा विश्वास है, यही आगे चल कर भारत का भी लक्ष्य बनेगा।

रानी : यदि आज्ञा हो तो प्रार्थना करूं ?

अशोक : प्रार्थना ? ......प्रिये, मेरे प्राण तुम में बसते हैं। तुम्हारी कोई भी बात प्रार्थना नहीं होनी चाहिये। सहर्ष कहो क्या चाहती हो ?

रानी : आप का आदर पा कर मैं धन्य हो गई हूं महाराज। बड़े तप और पुन्य के फलस्वरूप एक सुयोग्य पुत्र मिलता है। राजकुमार कुणाल भी अब शासन कार्य में दक्ष हो गया है। यदि आप अब उसे वहां का उपराज बना कर अवसर न देंगे तो फिर वह कब कुछ सीखेगा ?

अशोक : राज कुमार के प्रति तुम्हारा अगाध प्रेम देख कर मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही प्रिय तिष्ये। उसकी माता रानी पद्मावती यदि जीवित होती तो शायद उसे भी उसकी इतनी चिन्ता न होती। तुम्हारी बात पर मैं विचार करना चाहता हूँ।

रानी : विचार नहीं, आज्ञा दीजिये महाराज ! मुझे विश्वास है, कुमार सहर्ष आज्ञा का पालन करने को उद्यत होगा।

अशोक : कुमार को तक्षशिला का उपराज बना कर वहां मैं भेजूं ? ......उसे भी आंखों से ओझल कर दूं ?......परन्तु ......(स्वगत) एक दिन तो वियोग सहना ही होगा। (ऊंची आवाज़ से) अच्छा, ऐसा ही होगा।

कुमार : प्रणाम पिता जी, माता जी !

(कुणाल का आना)

अशोक : चिरंजीव रहो कुमार !

कुणाल : पिता जी, तक्षशिला में विद्रोह हो गया है, इसी लिये आप ने स्मरण किया है मुझे ?

अशोक : नहीं !

रानी : (जल्दी से) हां......इसी लिये !

कुणाल : आज्ञा कीजिये, मैं सूर्योदय से पहले ही प्रस्थान करूंगा।

रानी : महाराज ! मैंने पहले ही कहा था.........।

अशोक : बेटा कुणाल ! मैं सोचता हूँ, यदि तुम्हें भेजूं तो तुम.........?

कुणाल : मेरे बारे में आप कुछ चिन्ता न करिये पिता जी ! केवल आप का संकेत-मात्र होना चाहिये, बस !

अशोक : परन्तु मैं चाहता हूं, तुम सेना के बल पर नहीं, अपितु सत्य और प्रेम के बल पर विद्रोह को शान्त करो, क्या तुम यह कर सकोगे ?

कुणाल : क्यों नहीं पिता जी ! क्या मैं यह नहीं जानता कि हमारे

राज्य का विस्तार केवल प्रेम और अहिंसा द्वारा ही हुआ है। अतः यही रास्ता अपनाना ठीक रहेगा पिता जी ! यह मेरी पक्की धारणा है।

रानी : परन्तु राज्य का मुआमला है, विद्रोहियों का सामना करना है। उसके लिये………।

अशोक : मुझे तुम से यही आशा थी, कल प्रातः तुम तक्षशिला के उपराज बन कर जाओगे, परन्तु तुम्हारा लक्ष्य सदैव सत्य, अहिंसा और प्रेम होना चाहिये।

कुणाल : आपके आशीर्वाद से प्रयत्न करने पर अरिदल रूपी अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जायेगा पिता जी !

रानी : आपके आशीर्वाद से विजय इसी की होगी महाराज, विजय इसी की होगी !

सीन ५

(तरह-तरह की आवाजें वगैरह)

(दो आदमी आपस में हंसते हुए बातें करते चले जा रहे हैं)

देवदत्त : (हंसते हुए) भई वाह ! यह देखना बाकी रहा था…… …वाह री महारानी तिष्यरक्षिता !

धनगुप्त : यदि सच पूछो तो इससे बढ़ कर सौभाग्यवती कौन हो सकती है ?

देवदत्त : और क्या ? जीवन के मध्याह्न-काल में महाराज ने दासी से महारानी बना दिया।

धनगुप्त : प्रकृति का षड्यंत्र देखो, तक्षशिला में उपद्रव, कुमार का उपराज बना कर भेजा जाना, महाराज का पुरीषोदावर्त रोग से पीड़ित होना, जिस की औषधी राजवैद्य के पास

भी न मिली।

देव : और फिर……(हंसता है)।

धनगुप्त : (हंसते हुए) कहो………रुको मत, अरे पेट में बल पड़ जायेंगे।

देव : (हंसते हुए) और फिर………भाग्य देखा ……इस रोग की औषधि भी महारानी तिष्यरक्षिता के अतिरिक्त कोई न कर सका।

धन : और अब सुना है कि सात दिन के लिये राजकाज वही चलायेंगी।

देव : हां, महाराज ने प्रसन्न हो कर वर मांगने को कहा तो यह मांग बैठी सात दिन का राज्य।

धन : और उन्होंने भी कह दिया तथास्तु, अब देखो नई राज-आज्ञायें निकलती हैं?

देव : धन भाई ……अब तो अपने राम का सात दिन के लिये घर में श्रीमती जी से लड़ना बन्द।

धन : क्यों न हो, स्त्रियों का राज जो ठहरा। भैया, डरोगे नहीं तो शिकायत सीधी महारानी के पास पहुँचेगी, सुना?

(दोनों हंसने हुए आगे बढ़ जाते हैं)

सीन ६

(महारानी तिष्य रक्षिता का महल)

(महारानी बड़े क्रोध में हैं)

रानी : (क्रोध में) मुझे कुछ नहीं चाहिये। मुझे कुछ नहीं

चाहिये। हट जाओ मेरे सामने से।

कला : परन्तु महारानी जी...... ?

रानी : मैं कहती हूँ मेरे सामने मत आओ। (स्वगत, धीरे से) जीवन में कम से कम सात दिन के लिये चिन्ता को निर्वासित करने का प्रयत्न किया था। परन्तु यह अभागी फिर प्रकट हो गई। उफ......मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है।

कला : महारानी जी, कृपया संभलिये, कैसी चिन्ता ?

रानी : तुम नहीं जानतीं ? राजकुमार कुणाल ने सफलता से विद्रोह दबा दिया है, शासन में कई सुधार होने से जनता उस के गुण गा रही है, उस ने मेरा अपमान किया है, क्या मैं उसे आजन्म भूल सकूंगी ? (धीरे से) कुमार ! तुम ने मेरे जीवन को जलती चिता पर रख दिया है, जिन नैनों ने मुझे अशान्त किया है (ज़ोर से) उन्हें मैं संसार में नहीं रहने दूंगी, कदापि न रहने दूंगी।

कला : महारानी जी...... ।

रानी : कला......लो यह पत्र और.....देव गुप्त दे दो, वह अभी तिक्षशिला चला जाये और प्रधानामात्य को स्वयं दे। इस का पता किसी को न लगने पाये, और हां......देखो यहां किसी को पता न लग सके, यदि महाराज को या अग्रामात्य को पता लगा तो तुम जीवित न रह सकोगी। जाओ।

कला : जो आज्ञा महारानी जी, जो आज्ञा।

सीन ७

(तक्षशिला के राज दरबार में)

कुणाल : यह क्या प्रधानामात्य, पत्र आप के हाथ से गिर गया।

सेनापति : पत्र गिर पड़ा? आप का स्वास्थ्य तो ठीक है ना?

प्रधानामात्य : यह......यह...... क्या देख रहा हूँ......मेरी आंखें मुझ को धोखा तो नहीं दे रहीं सेना पति?

सेनापति : कैसा पत्र है प्रधानामात्य।

(पत्र पढ़ता है)

प्रधानामात्य : प्रियदर्शी सम्राट अशोक की आज्ञा से......उपराज कुणाल......की आंखें निकाल कर......निर्वासित कर दिया जाये......वे देश द्रोही है......उन्होंने महाराज के विरुद्ध षड्यंत्र रचा......।

सेनापति : देश द्रोही है? उन्होंने महाराज के प्रति षड्यन्त्र रचा?

कुणाल : बस? इतनी सी बात के लिये......प्रधानामात्य घबरा गये हैं?

सेनापति : यह अन्याय है, अत्याचार है, षड्यन्त्र है, हम इसे सहन नहीं कर सकते।

प्रधानामात्य : (भर्राई आवाज़) मुझे विश्वास नहीं आता कि......।

कुणाल : दनतमुद्रा विश्वास दिलायेगी प्रधानामात्य......सोच विचार को छोड़ कर चांडाल को बुलवाइये।

सेनापति : तक्षशिला को तो पहले ही विद्रोही होने की उपाधि मिल चुकी है उपराज, एक और आज्ञा का उलंघन करने की धृष्टता अब मैं करूंगा, यह पत्र सम्राट का नहीं हो सकता......इस में कुछ न कुछ रहस्य है।

प्रधानामात्य : सत्य और अहिंसा पर चलने वाले सम्राट अशोक ऐसी हिंसा पूर्ण आज्ञा नहीं दे सकते। विशेष कर जब श्री उपराज ने प्रेम और अहिंसा के पथ पर चलते हुए यहां शान्ति स्थापित की।

सेनापति : हम यह अन्याय सहन नहीं कर सकते, हमारी भूमि में ऐसा अत्याचार नहीं हो सकता महाराज।

कुणाल : आवेश में न आइये सेना पति, बड़ों की आलोचना करना हमारा कर्तव्य नहीं, महाराज देशाधिपति तथा पिता होते हुए मेरे लिये पूज्य हैं, यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आज्ञा पालन का अवसर प्राप्त हो रहा है... ...मुझ से बढ़ कर कौन भाग्यशाली हो सकता है... ...मेरी आज्ञा है कि चांडाल को बुलाया जाये।

सेनापति : मेरे जीवित रहते तक्षशिला पर यह कलंक का टीका नहीं लग सकता उपराज।

प्रधानामात्य : हां उपराज हमारी प्रार्थना है कि हमारे विचार महाराज तक पहुँचाये जायें।

सेनापति : अगर ऐसा होने दिया गया तो इतिहास हमें कभी क्षमा न करेगा महाराज।

कुणाल : सेनापति एक भिखारी जब भगवान के नाम पर कोई वस्तु मांगता है तो भगत और दयालू लोग उसे वह वस्तु दे देते हैं, जब पिता जी के नाम पर कोई मेरे नेत्र लेना चाहता है तो मुझे इस में आपत्ति नहीं; चांडाल को बुलवाइये।

सेनापति : नहीं नहीं ऐसा नहीं हो सकता, ऐसा नहीं हो सकता।

कुणाल : द्वारपाल चांडाल को भेज दो।

प्रधानामात्य : धीरज से काम लीजिये महाराज, उपराज, आप यह

क्या कर रहे हैं।

सेनापति : आप यह क्या कर रहे हैं, हमारी प्रार्थना मान लीजिए।

चाँडाल : उपराज की जय हो, चांडाल प्रस्तुत है।

कुणाल : लो लो, मेरे नेत्र फोड़ लो।

चांडाल : आप के नेत्र फोड़ लूं महाराज ? नहीं नहीं यह असंभव कार्य मुझ से नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता, कभी नहीं।

(शोर)

सेनापति : महाराज आप देश से अन्याय कर रहे हैं।

कुणाल : (चाण्डाल से) चाण्डाल जानते हो अपने कर्त्तव्य से विमुख होना महापाप है ?

चाण्डाल : मनुष्य को कर्त्तव्य के पथ पर चलने की शक्ति भगवान देते हैं महाराज·········मेरे हाथ आज पहली बार नहीं उठ रहे·········मैं असमर्थ हूँ·········मैं असमर्थ हूँ महाराज !

कुणाल : मैं कुछ नहीं सुनना चाहता, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, मेरे नेत्र फोड़ डालो।

चाण्डाल : आप मुझे इतना नीच समझते हैं महाराज, मुझ से यह नहीं हो सकता कि········· ।

कुणाल : तुम्हारा इतना साहस, तक्षशिला का उपराज तुम्हें आज्ञा देता है कि तुम उस के नेत्र फोड़ डालो ?

चाण्डाल : महाराज आप का यह तुच्छ सेवक आप के लिए प्राण तक दे सकता है। परन्तु उस से यह अन्याय नहीं हो सकता, महाराज नहीं हो सकता।

कुमार : तो क्या महाराज की आज्ञा का उल्लंघन मेरे सम्मुख ही

होगा ? सभी मुझे कर्तव्य पथ से विमुख करेंगे ? नहीं ऐसा नहीं हो सकता, मेरे जीते जी ऐसा नहीं हो सकता।

प्रधानामात्य : हमारी प्रार्थना है कि आप जल्दी न करें।

सेनापति : हमें कलंकित होने से बचाइये महाराज।

प्रधानामात्य : जहां सन्देह हो वहां शीघ्रता से काम लेना नीतिसंगत नहीं उपराज।

कुमार : अधिक विलम्ब दुर्बलता को जन्म देता है सामन्त गण। अब संसार की कोई शक्ति मेरा विचार नहीं बदल सकती। मेरा निर्णय अटल है। कुणाल अपने पूज्य पिता की आज्ञा का पालन न करके कलंकित नहीं हो सकता।

सेनापति : हमारी प्रार्थना पर………।

कुमार : मैं कुछ नहीं सुन सकता, अब मैं कुछ नहीं सुन सकता, अब कोई शक्ति मुझे कर्तव्य पथ से विमुख नहीं कर सकती। मैं स्वयं ही अपनी आंखें फोड़ लूंगा, मैं स्वयं ही अपनी आंखें फोड़ लूंगा।

प्रधानामात्य : महाराज, यह आप क्या कर रहे हैं महाराज ?

सेनापति : रुक जाइये महाराज, भगवान के लिए रुक जाइये !

कुणाल : हट जाइये, सेनापति मैं कहता हूँ हट जाइये। आह…… (आंखें फोड़ना)।

प्रधानामात्य :
सेनापति : उपराज।

(घबराहट में आवाजें)

कांचन : (चीख मार कर) नाथ, यह क्या हो गया, नाथ, यह क्या हो गया ?

कुणाल : पिता जी की ....आज्ञा का पालन।

कांचन : पिता जी को हमारा जीवन अन्धकारमय बना कर क्या मिला नाथ, मैं पूछती हूँ क्या मिला ?

कुणाल : पिता जी की आज्ञा का पालन करके हमें उस पर पश्चाताप नहीं करना चाहिये,। प्रिये, चुप हो जाओ. चुप हो जाओ कांचन ! अश्रुपात व्यर्थ है प्रिये, अब सब कुछ व्यर्थ है !

कांचन : मैं क्या करूं नाथ, अब मैं क्या करूं ?

कुणाल : कांचन, अब दूसरी आज्ञा का पालन करने में तुम्हें मेरी सहायता करनी होगी !

कांचन : और क्या रह गया है अब नाथ, अब और क्या रह गया है ?

कुणाल : मैं तुम्हें लेने आया हूँ प्रिये, अब हम यहां नहीं रह सकते, मुझे बड़ा खेद है कांचन, तुम्हें यह महल अब छोड़ना पड़ेगा, इस के सब सुखों को तिलांजलि देनी होगी, और वह सब मेरे ही कारण।

कांचन : नाथ।

कुणाल : परीक्षा के समय कदम डगमगाने नहीं चाहिये रानी।

कांचन : मुझे कुछ नहीं चाहिये, नाथ, मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं केवल आप के चरणों में स्थान चाहती हूं। आप का प्रेम, आप का स्नेह ही मेरे लिए सब कुछ है !

कुणाल : कांचन, मैंने कहा था ना कि कुणाल आजीवन तुम्हारा ही रहेगा, इधर आओ मेरे समीप आओ।

कांचन : नाथ।

कुणाल : मुझे सहारा दो कांचन, मुझे सहारा दो !

कांचन : अब तुम अपनी कांचन को कैसे पहचानोगे नाथ, कैसे पहचानोगे, किसे देखोगे ?

कुणाल : पगली। कांचन को पहचानने के लिये कुणाल को इन चरम चक्षुओं की आवश्यकता नहीं। वह तो तुम्हें केवल एक स्पर्श से पहचान सकता है, केवल एक स्पर्श से।

कांचन : नाथ।

कुणाल : कांचन।

संस्मरण

पंत जी से एक भेंट

—शक्ति शर्मा

भाषा विज्ञान विषयक नीरस शोध कार्य का मूल ढूंढते-ढूंढते पंत जी से परिचय की उत्कट लालसा प्रथम अगस्त १९५६ को उनके निवास-स्थान की ओर ले गई। शुष्क अनुसन्धान की जिज्ञासा रखने वाली छात्रा फूलों की रंगीनियों में मचलते कलरव से कानाफूसी करते और प्रकृति सहचरी से प्रेमालाप करते कवि पन्त के साथ किस विषय की चर्चा करेगी ? इस चिन्ता से दांव-पेच कर रही थी कि साथी ने कहा, "उतरिए बहन जी !' 'एं आ गये ?' प्रकृति से उपेक्षित उस क्षेत्र में ऐसा प्रतीत हुआ कि इधर-उधर कहीं जगह पा कर प्रकृति सिमट कर पंत जी की कोठी में आकर टिक गई हो। छोटे-से आंगन में हरियाली कवि के तरल उद्‌गारों-सी छितर रही थी और उन्हीं की रंगबिरंगी कल्पनाओं के सदृश फूल मुस्करा कर स्वागत कर रहे थे। नौकर से कहलवाया तो कविता की प्रतिमूर्ति-सी पन्त जी बाहर आ गए। प्रतीत हुआ कि कोई रंगीन स्वप्न लोक साकार होकर आ गया।

'यह जम्मू से आई हैं।' साथी ने कहा।

'अरे ! आप लोग तो कल आने वाले थे न ?' वह भूल गए थे कि उन्होंने पहले अगले दिन का समय दे कर बाद में आज ही मिल लेने पर ज़ोर दिया था। हमारे साथी के स्मरण दिलाने पर

वह कुछ ढूंढ़ते हुए से अत्यंत सरल भाव से कहने लगे, 'आज गर्मी बहुत है न, मुझे स्मरण ही न रहा, आइए बैठिए।' उन्होंने अपनी बैठक खोल दी। छोटा-सा कमरा आधुनिक ढंग से सजा सामने ही उनका अपना बैठने का तख्त था, जिस पर गहरे रंग की छपाई का तख्तपोश बिछा था और उस पर सात भिन्न २ रंगों की छोटी-छोटी गद्दियां करीने से दीवार के साथ सटा कर रखी गई थी। उसके सामने छोटी-सी गोल मेज़, आगे पीछे गद्देदार कुर्सियां रखी थीं। हम लोगों को कुर्सियों की ओर निर्देश करते हुए वह स्वयं तख्त पर बैठ गए और पूछने लगे, 'कहिए कैसे आना हुआ?'

'यों ही दर्शनों की लालसा थी!'

'मैं एक बार काश्मीर गया हूँ और अब जम्मू तथा गुलमर्ग जाने का विचार कर रहा हूँ।'

उनकी इस बात से हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ देर रियासत की स्थिति, भूगोल एवं आने-जाने के विषय पर चर्चा चलती रही।

'मुझे पत्र लिखना, मैं आने की सूचना दूंगा। तदुपरांत आप की वहां कार्यक्रम रखने की इच्छा पूरी हो सकती है।' ऐसा कहते हुए उन्होंने कोटि-कोटि कल्पनाओं की स्रष्टा अपनी लेखनी से अपना ऐड्रैस लिख दिया। तत्पश्चात् बातचीत का रुख काव्य, प्रकृति, परमात्मा, मानव, मानव का विकास, ध्यान, पूजा दर्शन और पता नहीं कहां-कहां की ओर बह गया। घंटा ऐसे बीत गया मानों क्षण हो। चर्चा का सारांश यों है—

प्रकृति जड़ है, सुन्दर भी, असुन्दर भी। मानव प्रकृति की अत्युत्तम सृष्टि है। सभ्यता का विकास ही मानव का विकास है। बाह्य और अंतर परस्पर सापेक्ष है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं। शरीर बाह्य है आत्मा अन्तर। दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं; अतः बाह्य की उपेक्षा उचित नहीं। मानव सभ्यता के द्वारा ही विकास के पथ पर अग्रसर होता है।

'युगों से सभ्यता विकसित हुई, पर मनुष्य की पशुवृत्तियां अभी जहां की तहां हैं। अतः विकास कैसे हुआ ?'

मैंने प्रश्न उठाया, क्या आप बाह्य वेश-भूषा के परिवर्तन को ही विकास मानते हैं ? प्रकृति में तो अंतर नहीं आया, पशु-वृत्तियां वैसी ही हैं ?'

"अरे ! आप नहीं समझेंगी। प्रकृति में भी बदल हुआ है। सूर्य से पृथ्वी बन गई इत्यादि। बाह्य परिवर्तन ही आंतरिक परिवर्तन लाएगा। मानव समाज बहुत विशाल है। वह पशुपन पर काबू पा रहा है। पर भई, पशुपन तो बुरा नहीं। आप उसे हेय क्यों मानती हैं ! वह भी तो परमात्मा की सृष्टि हैं। अत्यन्त भोले और सरल।' पंत जी भाव में बह से चले और यह भी भूल गए कि अभी-अभी मैंने उनसे यही बात कही थी कि पशु और मानव में वृत्तियों की दृष्टि से कोई अंतर नहीं आया तो वह भारी विरोध के स्वर में बोल रहे थे (मानव के पक्ष में)।

'मुझे पूर्ण विश्वास है कि मानव मंगल-पथ पर अग्रसर है, उसका मंगल होगा। हम विचार-शक्ति में आज बहुत आगे बढ़ गए हैं।' मानव के पूर्ण विकास के लिए कौन-सा दर्शन सहायक होगा ?'

'यह नहीं कह सकता। सभी दर्शन प्रयोगात्मक हैं, पर सभी का लाभ है। सीमाएं हटनी चाहिए। सीमाओं ने हमारी दृष्टि को संकुचित कर रखा है। सब भगवान की विभूतियां हैं, सब एक ही तो हैं।' पंत जी जब अधिक बोलने लगते तो भाव में बह से चलते।

'मुझ से कविता क्यों छूट गई है ?'

'आप उसे चाहती न होंगी !' बड़े भावपूर्ण ढंग से बोले।

'मुझे तो बड़ी अच्छी लगती है।'

'किसी सीमा तक लगती होगी न। वह थोड़ी नहीं, बहुत अच्छी लगनी चाहिए। उसे समग्रता से चाहना होगा, तभी

वह आएगी। उसके लिए निरंतर उसका ध्यान करिए।'

'ध्यान और पूजा में क्या अन्तर है ?' मैंने पूछा।

'कोई नहीं !'

'पर आप ने तो एक बार किसी से कहा था 'कि मैं पूजा नहीं, ध्यान कर रहा था।'

'ध्यान कई प्रकार का होता है और यह बड़ा विस्तृत विषय है।'

'आप कौन-सा ध्यान करते हैं ? सिर्फ उसी एक के विषय में बताइये।' मैंने हठ सा करते हुए कहा।

'यह बहुत कठिन है। ध्यान बताने की वस्तु नहीं, आप स्वयं अभ्यास करिए। जान जाएंगी।' वह कुछ ध्यान मग्न-से होते जा रहे थे।

'तो क्या मैं मान लूं कि पूजा और ध्यान एक ही वस्तु हैं ?' मैंने विषय को कुरेदना चाहा।

'नहीं, यह दोनों एक हैं भी और नहीं भी' पंत जी कुछ क्षणों के लिए फिर खुल पड़े। 'एक होते हुए भी दोनों में भिन्नता है। जैसे पति और पत्नी का जीवन समग्र रूप में एक ही है, वे अभिन्न हैं। पर दोनों का अलग-अलग अस्तित्व है, अलग-अलग आवश्यकताएं हैं। अलग-अलग क्षेत्र हैं, इत्यादि।

बाहिर आंगन में तभी दो पक्षी लड़ पड़े तो पंत जी का ध्यान उधर बट गया। झुटपुटा हो रहा था। उन्होंने कलई पर बंधी घड़ी की ओर देखा, तो हम ने सोचा अब चलना चाहिए। हम लोग उठ खड़े हुए।

'तो चल रहे हैं ?'

'जी हां, आज्ञा दीजिए।' कह कर कला की उस प्रतिमूर्ति के के सामने नतमस्तक हो हम लोग बाहिर आए। वीणा के तार की विलीन होती झंकार की भांति पंत जी की मृदु स्वर-लहरी देर तक कानों में गूंजती रही और हृदय एक अनुपम अनुभूति से रस सिक्त होता रहा।

"डेज़र्ट बस" में

—घनश्याम सेठी

प्रिय सद्,

'खय्याम' के दो तल्ले पर स्थित अपने कमरे की बालकनी से नीचे सेहन में देख रहा हूँ—फ्रेंच 'कासमटिकस' की खुशबुओं में बसे, चिकने फ़र्श पर नाचते हुए अमेरिकन और अंग्रेज़ जोड़े—नाम मात्र के लिए कपड़े को शरीर से लगाए, अरबी साज़ों की 'रम्बा' धुनों पर शरीर का प्रत्येक अंग नचाती हुई 'केबरे' की अरबी नर्तकियां, बुझाती और बुझ-बुझ कर जलती रोशनियां, गर्म-गर्म सांसों का स्पर्श, लम्बे-लम्बे निःश्वास और आहें, 'शेम्पियन' की स्काच के कलात्मक गिलासों का टकराव और उन में बसी मदिरा का छलकाव। अर्ध रात्रि की इस घड़ी में जैसे 'अरेबियन नाइटस' का बगदाद जीवित हो गया है। पर सामने की दीवार पर टंगी शाह फैसल की तसवीर इस भ्रम को जीवित नहीं रहने देती।

कल और आज में कितना अन्तर होता है, यह मेरी जगह होती तो तुम खूब समझ पाती। कल 'पुलमरा' के उस ऐतिहासिक स्थल में रात वीरान थी। होटल का वातावरण भी बड़ी अप्रिय निःस्तब्धता से बोझिल था। डिनर भी समय से पहले ही दिया गया था और डिनर से पहले, डिनर के साथ और डिनर के बाद पेग चढ़ा कर नृत्य करने वाले स्त्री-पुरुष भी कल आधे घण्टे से अधिक

नहीं टिके। मेरी तरह से सब 'डेज़र्ट बस' के यात्री थे। मेरा कमरा तीसरी मंजिल पर था, जिस की खिड़की से पुलमरा के छोटे-छोटे घरौंदे, अमरीकी सेना की छावनी, तेल कम्पनी का कार्यालय और उन से कुछ हट करके 'कलदानियों' के युग के भग्नावशेष एक विचित्र वैभव में लिपटे हुए प्रगाढ़ निद्रा में लीन थे। खण्डहरों में से उभरते हुए ऊंचे-नीचे स्तम्भ सीरिया के उस महा मरुस्थल की पृष्ठभूमि में यों दृष्टिगोचर होते थे जैसे बौनों की बस्ती में देव! किन्तु पुलमरा सो रहा था, जीवन और मृत्यु अतीत और वर्तमान का यह संगम हो रहा था। निर्धन अरबों और खुशहाल नसरानियों की बस्तियां अन्धकार में खो गई थीं। चारों ओर की डरावनी स्तब्धता से ऊब कर मैंने तुम्हारे विचारों में डूब कर निद्रा की शरण ली। एक लिहाफ और दो कम्बल मेरे रक्षक थे। रात के समय यहां कश्मीर से भी अधिक ठंडक पड़ती है। यहां के मौसम का मुझे पहले कोई अनुमान न था।

चार बजे के लगभग 'अलार्म' हुआ गर्म-गर्म बिस्तर छोड़ते हुए बड़ा दुःख हुआ। पांच बजे के लगभग होटल के 'रेस्तरा' में पहुँचा तो देखा सभी लोग, उठ चुके थे और *'कांटिनंटल' ब्रेकफास्ट' नाश्ता चल रहा था। बाहर कुहासे में एक बड़ी बेडौल और भारी भरकम बस खड़ी थी। इंजिन का भाग अलग था और यात्रियों के बैठने की बैन अलग। बस कम्पनी का मैनेजर और बस का ड्राइवर दोनों मेज़ पर झुके आवश्यक पत्रों—पासपोर्ट, कस्टम डिक्लेरेशन्ज' से उलझ रहे थे। 'नारान'—यह था बस-कम्पनी का नाम, जिस के मालिक लन्दन और न्यूज़ीलैंड के नागरिक हैं।

यहां से बगदाद लगभग पांच सौ मील है, परन्तु इस कम्पनी की शक्तिशाली और आधुनिक "एयर कंडिशंड' बसें इतनी लम्बी यात्रा को लगभग पंद्रह घण्टे में तय कर लेती हैं। मार्ग में पड़ाव केवल दो हैं, एक रतबा का दुर्ग और दूसरा रमादनी जहां से ईराक की सीमा आरम्भ होती है। एक ज़माना था यह यात्रा ऊंटों के

*मध्य पूर्व और तुर्की में दूध वाली चाय या काफी के नाश्ते के लिए यही प्रचलित नाम है। अधिकतर लोग कहवा ही पीते हैं।

क़ाफ़िले तय किया करते थे और आज भी करते हैं, और 'दमिश्क' से बगदाद पहुंचने में इन को बीस दिन लग जाते थे। पांच सौ मील की इस यात्रा में से चार सौ मील के लगभग मरुस्थल से गुज़रना पड़ता है। पुलमरा इस महा मरुस्थल में 'सीरिया' का प्रथम पड़ाव है। परन्तु इस मरुस्थल में रेत कम है और लाल मिट्टी अधिक, कहीं-कहीं कालिमायुक्त टीले इस इक रंगी को मग्न करने का प्रयत्न करते हैं। कहीं-कहीं बरसाती नदियां भी मिलती हैं। पर शायद यह धरती जल का स्पर्श सहज ही प्राप्त नहीं कर पाती।

यहां भी लेबनान के मरु मार्गों के समान कोई सड़क नहीं थी। जो चिन्ह पहले गई बसों के टायरों ने बना दिये थे वही सड़क का काम दे रहे थे। कहीं-कहीं ऐसा होता कि कोई चिन्ह न मिलता और न दूर तक कोई टीला दृष्टिगोचर होता, वहां ऐसा लगता कि हम किसी महासागर के तूफान में घिर गये हैं और जब रेत के बवंडर उठते तो बस में लाल अंधेरा हो जाता और मेरी तरह के नवागलुक सोचते न मालूम हम किधर दौड़े जा रहे हैं, कहां जा निकलेंगे? परन्तु ड्राइवर का अनुभव पर्याप्त प्रौढ़ था घण्टे डेढ़ घण्टे तक गाड़ी उड़ाने के बाद वह फिर ठीक वहीं आ पहुंचा, जहां से आगे टायरों के चिन्ह दूर तक चले गये थे।

'हलबा' के प्रसिद्ध कुएं पर कोच (बस) आध घण्टे के लिये ठहरा दी गई। साढ़े छः सौ मील के इस मरु में ऐसे स्थल दस-बारह ही हैं जहां काफिले अपनी प्यास बुझा सकें। ये कुएं फ्रेंच इंजीनियरों का कौशल हैं। कुएं के चारों ओर ऊंटों, भेड़ों और विभिन्न कबीलों की खासी भीड़ थी। कितनी अजीब बात है, सदू! जहां जीवन असम्भव है वहां भी जन्तु और जीव दोनों जीवित रहने के लिये संघर्ष करते हैं। लेह और लद्दाख की बारह हज़ार फुट ऊंची बस्तियां और ये कबीले इसी संघर्ष के स्तम्भ हैं। यह संघर्ष किन-किन मंज़िलों से गुज़रता है और किस सुख-दुःख के धारे का जन्मदाता है, काश यह देखने-समझने के लिये समय, स्थिति और साहस होता।

ऐतिहासिक और विश्व प्रसिद्ध 'डर' 'रुदाल' कबीलों के

आदि वासी देखे। ऊंचा कद, गठीले और मजबूत स्त्री-पुरुष। कई स्त्रियों के मुख की बनावट मंगोल ढंग की थी। पहनावा कश्मीरियों सा था ढीला लम्बा चोगा, ऊन के साफे और कमर को बाधे डोरियां।

कुएं की गहराई बे-अंदाज़ थी। पानी चमड़े की बड़ी-बड़ी छागलों में खींचा जा रहा था। छागल इतनी बड़ी थी कि चार स्त्रियां कठिनाई से खींचती थीं और पानी से भरी छागल जब कुएं के मुख पर पहुँच जातीं, तो ये स्त्रियां रस्सी थामते हुए कुएं से बहुत दूर निकल जातीं। यद्यपि कुएं की गोलाई बहुत ज्यादा थी, परन्तु इस की तह में जल सच मुच एक नन्हे सितारे के समान झिलमिला रहा था।

'पंक्ति बनाइये' (क्यू) का बोर्ड नहीं था, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने मौक़े पर ही मुडेर की ओर आता। 'उर' कबीले के लोग काफी हद तक भारतीय दृष्टिगोचर होते हैं। इनके शरीर की बनावट रुदालियों से भिन्न थी। 'उर' टिगरिस और इफरात नदियों के संगम पर स्थित एक भग्नाव शेष नगर है। आज यह दलदल और रेत में घिरा है, परन्तु 'बाइबिल' के अनुसार मानव ने सर्व प्रथम (ईसा से चार हज़ार वर्ष पूर्व) रहने के लिये घर यहीं बनाया था। यों तो मानव 'उर' से बहुत पहले ही अस्तित्व में आ चुका था, शायद दस लाख वर्ष पूर्व परन्तु 'घर की सभ्यता' यहीं से आरम्भ हुई। इस से पूर्व वह एक जगह से दूसरी जगह फल, जल और अन्न की खोज में भटकता था। फिर सहसा सिन्धु, नील और इफरात की घाटियों में शहर बसने लगे—घरों के समूह। वह घर क्या थे? शायद चार दीवारों से अधिक इन का कोई महत्व न था फिर शायद मानवों ने नाव का आविष्कार किया होगा, एक दूसरे के विकास में सहायता देने के लिये, परन्तु फिर यह सहायता किस रूप में परिणत हो गई, यह मानव के उत्थान और पतन की लम्बी कहानी है। 'उर' जहां आज भी लोग अब्राहम की डायरी (जो उस ने ईंटों पर लिखी थी) के पृष्ट ढूंढने जाते हैं, जहां सर्व प्रथम मानव ने घर बनाया था, जहां 'गार्डन आवईडेन' था, उस

सांस्कृतिक और महान् नगरी के नागरिक आज ऊंट पालते हैं। मानव ने उस से चार दीवारें खड़ी करना सीख कर डेढ़-डेढ़ सौ मंज़िले घर खड़े कर लिये हैं, पर आज 'उर' बे-घर है। इतिहास का यह कैसा खेल है, सदू! प्रकृति और ईश्वर का यह कैसा चक्र है ?

शायद तुम ने बाइबिल नहीं पढ़ी। "दी फ्लड" (जल-स्रवान) बाइबिल के शैशव की कथा है, जब उर के सब निवासी (नूह और इस के परिवार के अतिरिक्त) बाढ़ से बह गये थे। इफरात में आज भी बाढ़े आती हैं—पर आज 'उर' में खण्डहरों के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं है। शायद ही इन खण्डहरों तक पहुँच सकूं। पहुँचा तो तुम्हें चार हज़ार वर्ष पुराने मानव के कारनामे सुनाऊंगा।

बस 'एयर कंडिशंड' थी। एक दिन के लिए प्रत्येक यात्री ने चौदह पौण्ड दिये थे। पर ज्यों-ज्यों सूर्य की किरणें प्रचंड होती गईं नेकटाइयां, कोट और बुरके उतरते गये। मानव न जाने कैसे यहां जिंदा रह पाता है।

डिब्बों में 'पैकड लंच' हमारे सामने ला कर रख दिया गया। पर खाने को मन न हुआ। खोल कर देखा—चार-पांच सैंडविच, आधी दर्जन खुबानियां और एक खीरा था। बन्द करके उसी प्रकार रख दिया। यह खाने की समस्या भारतीयों के लिये बड़ी टेढ़ी है। हम ने ज़माने की गर्दिश में इतना कुछ खोया है, पर जिह्वा का यह स्वाद नहीं छूटा। मरुस्थल में भी पक्षी होते हैं, न कहीं पढ़ा था, न कहीं सुना था। यहां के लोग इन्हें 'गुजाल' कहते हैं। बस का हार्न बजते ही पे पों बिखरते हैं वातावरण में, जैसे लगता है कि यह गुब्बार सा उड़ा जा रहा है।

फिर दोपहर ढल गयी जैसे-तैसे, पर सेपहर ने शपथ खाली थी। सूर्य पश्चिम की गोद में जा चुका था, टीलों के साये लम्बे होने लगे थे पर रात्रि की छाया तक नहीं थी। देर तक यही स्थिति रही। सन्ध्या होगी—बार-बार घड़ी की ओर देखता, लगता कुछ गड़बड़ है। परन्तु फिर एकाएक क्षण भर ही में रात ने सितारे-टंका

आंचल फैला दिया। कहां से पहर ढली और कहां रात आ गई। मरु में सन्ध्या नहीं होती।

एक हिचकोले के साथ बस रुक गई। द्वार खुला, रुतबा का दुर्ग आ गया था। हम ईराक में थे। मफलर और नेक्टाइयों ने पुनः अपनी जगह संभाली। बुरके अलबत्ता उतरे तो सचमुच ही उतर गये। दुर्ग के सिंह द्वार पर शर्माया-सा ईराकी झण्डा फहरा रहा था। आठ-दस अन्य गाड़ियां भी खड़ी थीं। यहीं, थोड़ा हट कर 'हब्बानियां'' में अंग्रेजों की आर० ए० एफ़० का हवाई अड्डा था, जिस के बारे में युद्ध के दिनों में इतनी चर्चा रहा करती थी। इन गाड़ियों के आ जाने के कारण इस नन्ही-सी रेगिस्तानी बस्ती में जीवन की एक एक लहर उत्पन्न हो गई थी—सोया हुआ वातावरण जैसे एकाएक जाग उठा था। कुछ ऐसा दृश्य था जैसे किसी छोटे-से देहाती स्टेशन पर यात्रियों से भरी गाड़ी के आने पर दृष्टिगोचर होता है। मुझ से कुछ दूर खड़े दो व्यक्ति अंग्रेज़ी में बातें कर रहे थे। एक मलाया में बमबारी का ज़िक्र कर रहा था, दूसरा दिल्ली में वर्षा का। फिर एक ने सिगरेट पिया, दूसरे ने माचिस जलाई और लंबी 'चीरियो' कह कर दोनों जुदा होग ये। यह अंग्रेज़ 'पाइलट' थे।

हम अन्धेरे में इधर-उधर भटक रहे थे कि किसी का भारी भरकम स्वर कानों में सुना—'प्लीज़ कम फार डिनर।' होटल क्या था एक बैठक-सी थी। एक कोने में कुछ सोफे रखे थे। स्पष्ट है यह 'लाऊंज' था। दूसरी ओर तीन मेज़ों पर पश्चिमी ढंग से खाने के बर्तन चुने हुए थे। श्वेत चादरों पर चमकते हुए छुरी-कांटे बड़े सुन्दर 'पैटर्न' बना रहे थे। कुछ लोगों ने स्नान किया। पूरे आठ बजे घण्टी हुई। हम सब प्लेटों पर जुट गये। ईराक का खाना दमिश्क का मुकाबिला नहीं कर सकता। खाने को बहुत कुछ था (क्योंकि खाने का मूल्य दस शिलिंग था) पर बहुत अच्छा नहीं था। अंग्रेज़ कहीं कटलेट, गाजर की चटनी और उबले हुए आलू खा रहे थे। अंग्रेज़ी खाने के समान ही यह लोग नीरस हैं।

खाने के बाद कुछ देर 'लाऊंज' में बैठे क्योंकि अभी

गाड़ी का 'हार्न' नहीं हुआ था और ड्राइवर स्नान करने गया था। मेरे साथ वाली कुरसी पर एक अरब बैठा था, अपना राष्ट्रीय पहनावा पहने। सरगोशी के अन्दाज़ में उसने पूछा—

'पाकिस्तानी ?'

'नही !'

वह तनिक मुस्कराया—'हिन्दी ?'

मैंने सिर हिलाया।

उस ने चारों ओर सावधानी से देखा। फिर अपने हाथ में लपेटी हुई पत्रिका फैला कर उसने अपने मुंह को बाईं ओर से ढक दिया, और इस प्रकार कि उसकी बात मेरे अतिरिक्त कोई और न सुने; सांस खींच कर और मुस्करा कर कहा—नैरू (अभिप्राय नेहरू से था)।

'हां' मैंने मुस्करा कर सिर हिलाया।

'गूद' अभिप्राय गुड से था। मैं विस्मित हुआ।

'नैरू गूद ! तीतो गूद ! नासेर गूद !'' फिर उसने इधर-उधर ध्यान पूर्वक देखा और कहा—''नूरा सईद (ईराक के वर्तमान कर्णधार) नो गूद; इंग्लिश नो गुड।''

यह भावनाएं मेरे लिए नई नहीं थी, पर कहने के ढंग से यह मैं समझ गया था कि ईराक वह देश नहीं है जहां लिखने और बोलने और आलोचना करने का स्वातंत्र्य होता है।

रास्ते के उस संगम पर केवल हमारी 'बस' के ही यात्री नहीं थे—बहुत से अन्य यात्री भी थे। फ्रेंच, ईराकी, तुर्क, अरब, अंग्रेज़ नीग्रो और अमेरिकन। यों लगता था कोई अन्तर्राष्ट्रीय समारोह हो रहा था। यह होटल एक अंग्रेज़ ने शुरू किया था। कुछ की तेल कम्पनी के एक अंग्रेज़ इंजीनियर ने दीवार पर टंगी हुई एक फोटो

की ओर संकेत करते हुए यह बतलाया कि इसी अंग्रेज़ के कारण रेगिस्तान के वक्ष पर बैठे हम भोजन कर सकें हैं।

बीस वर्ष तक होटल चलाने के पश्चात् बिच्छू के डंक से गत वर्ष उस व्यक्ति की मृत्यु हो गई, पर अब भी यह होटल उसी के नाम पर चलता है और व्यवस्था का उत्तरदायित्व इस बस कम्पनी ने ले लिया है।

कोई भारतीय होता तो तीन-चार वर्ष होटल चलाने के पश्चात् व्यवसाय को समेट कर घर की राह लेता'—एक भारतीय सज्जन ने मुझ से अंग्रेज़ी में कहा।

मैं चुप रहा। समझ में नहीं आया क्या उत्तर दूं। समझ में यह भी नहीं आया कि प्रश्न क्या था। पर उन्होंने ऊंचे स्वर में बोल कर सब को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। उन्होंने फिर कहा—"अंग्रेज़ यदि दुनिया-भर में फैला हुआ है तो क्या यों ही फैल गया है। यह तो साधना और कर्मठता का परिणाम है........" और वह अंग्रेज़ों के गुण गाते रहे। आयल कम्पनी के इंजीनियर उन की बात सुनते और फिर मानचित्र पर उन्हें कुछ समझाते। मैं मन ही मन सोच रहा था, यह वृत्ति ले कर यदि घर से बाहिर निकलते हैं तो देश का कल्याण कहां है—और मुझे वह अरब याद आ गया है जो कुछ पहले ही मेरे पास बैठा था, और अब कहीं रेगिस्तान में होगा। भारत और भारत के सपूत के प्रति मुझे उस की श्रद्धा और सम्मान-भरे भावों का ध्यान आ गया और मन ही मन में सोचने लगा—इस अरब और इस भारती में से कौन भारतीय है?

अंग्रेज़ी सभ्यता और परम्पराओं का किस्सा ज़ोर पर था, न मालूम यह कब तक चलता रहा कि 'बस' का 'हार्न' हुआ। दिन की अपेक्षा रात को मरु में जीवन के चिन्ह अधिक नज़र आते हैं। गाड़ी की रोशनियों में मैं देखता कभी कोई गीदड़, कभी कोई अन्य पशु और रेंगने वाले जन्तुओं का तो कोई अन्त ही न था।

बारह बजे के करीब गाड़ी रुक गई। मुझे नींद ने घेर लिया। आंख खुली तो प्रकाश की चकाचौंध ने बौखला दिया। हम बगदाद में थे। स्टेशन वैगन का प्रबन्ध हुआ, क्योंकि शहर में इतनी लम्बी-चौड़ी बस का गुज़र सम्भव नहीं।

टिग्रिस के पार, पुराना बगदाद, रात के अन्धेरे में भी अपने श्वेत मीनारों पर प्रकाश और छाया का एक खेल देख रहा था। पर इस खेल का रचयिता खलीफा हारून आज वहां नहीं!

['मिपथगा, (नव १९५६) से साभार]

निबन्ध

इतिहासकार कल्हण

—रमाकान्त भारद्वाज

पुण्यभूमि कश्मीर ने अपने उज्ज्वल अतीत में जिन असंख्य नररत्नों को जन्म दिया, उनमें अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न महाकवि और इतिहासकार कल्हण भी एक थे। उनकी अमर कृति 'राजतरङ्गिणी' कश्मीर की ओर से भारतीय साहित्य को प्राप्त वह देन है जो न केवल प्रत्येक कश्मीर-सन्तान के लिए अनोखे गर्व का विषय है बल्कि समस्त संस्कृत-साहित्य और भारत की राष्ट्रीय संस्कृति का कोष उसे पा कर सचमुच समृद्ध और धन्य हुए हैं।

ईसा की १२वीं शताब्दी के मध्य में जयसिंह नाम के एक राजा कश्मीर के शासक थे। उनके महामन्त्री के यहां हमारे इस चरितनायक ने जन्म पाया। उन्होंने सन् ११४८-५१ में इस चिरस्मरणीय महाकाव्य का प्रणयन किया।

प्राचीन पौराणिक मान्यता के अनुसार कश्मीर-भूमि आदि में 'सतीसर' नामक एक झील के रूप में थी, और कश्यप-मुनि ने ब्रह्मा की प्रेरणा एवं इन्द्र आदि देवताओं की सहायता से उसे वर्तमान आकार-प्रकार में मानव के निवास-योग्य रूप दिया।

इस घटना से प्रारम्भ करके कश्मीर के राजवंशों का लगभग बारहवीं शताब्दी तक का इतिहास, जिसमें महाभारत में वर्णित कश्मीर के 'गोनन्द' आदि राजवंशों तक का भी संकेत है और जिसमें

राजवंशों के सिवाय कश्मीर की सामाजिक और धार्मिक स्थितियों पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है, इस अनूठे महाकाव्य में वर्णित है।

प्राचीन भारत के बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्थान में कश्मीर का कितना महत्त्वपूर्ण भाग रहा है, इसका विस्मयजनक प्रमाण कल्हण छोड़ गये हैं। कल्हण न केवल एक उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी काव्य-कलाकार के नाते, और न केवल संस्कृत भाषा पर सार्वभौम अविचल अधिकार रखनेवाले एक साहित्य-महारथी के रूप में ही भारत सन्तान की अक्षय श्रद्धांजलि और गर्व के पात्र हैं, बल्कि हमारी संस्कृति के विदेशी समालोचकों द्वारा प्रायः लगाए गए इतिहास के अभाव के आरोप का एक ऐसा मुंहतोड़ उत्तर वे प्रस्तुत कर गए हैं कि उन्हें अतीत भारत के साहित्य-सूर्य का स्थान देना कोई अत्युक्ति नहीं है।

लेकिन इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त शोचनीय बात जो प्रत्येक साहित्यसेवी का ध्यान आकृष्ट करती है, यह है कि कल्हण के उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में ऐसे महान् साहित्यकार और उनकी सुधास्पन्दिनी कृति के प्रति अवहेलना पाई जाती है। कल्हण के बाद लिखे गए साहित्य में जहां अन्यान्य कवियों और उनकी विभिन्न रचनाओं का उल्लेख कई रूपों में मिलता है वहां कल्हण और राज-तरङ्गिणी के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई संकेत उक्त-साहित्य में अभाव की सीमा तक पाया जाता है। ऐसे लोकवंद्य विद्वान् के प्रति हमारे साहित्यक्षेत्र की यह उदासीनता, जहां हमारी एक अक्षम्य साहित्यिक दुर्बलता है, वहां भारत के निकटतर अतीत और वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में वीरपूजा के आवश्यक गुण की पुण्य-भावना के गर्हणीय अभाव का प्रमाण भी है।

यद्यपि, जहां तक इतिहास का सम्बन्ध है, हमारा प्राचीन साहित्य अवश्य ही बहुत कुछ अपूर्ण है, जो कि हमारे अतीत की शोचनीय त्रुटियों में से एक है, परन्तु कल्हण की राजतरङ्गिणी के रहते कम से कम पूर्वोक्त यूरोपियन विद्वान् का आरोप लड़खड़ा उठेगा।

इतना होने पर भी, हम कल्हण को भी कई स्थान पर अपने प्राचीन साहित्यकारों की पौराणिक मनोवृत्ति का शिकार होता देखते हैं। उदाहरण के तौर पर कश्मीर के एक राजा मेघवाहन की कथा को इस प्रकार वर्णन किया गया है। यह राजा कट्टर बौद्ध और अहिंसा का अटल विश्वासी था, यहां तक कि प्रजा में जीवहिंसा कानून से बन्द थी। उसने रक्तपात-हीन दिग्विजय भारत में की। इसी यात्रा में दक्षिणी समुद्र तट पर पहुंच कर उसका दुर्गा के आगे नरबलि दे रहे एक मनुष्य से सामना हुआ। प्रचलित राजाज्ञा की अवहेलना के लिए कैफियत मांगने पर उसने बताया कि एक चिररुग्ण शिशु-पुत्र की रोगमुक्ति के लिए ऐसा किया जा रहा है। इसपर दयार्द्र राजा मेघवाहन ने बलि के लिए प्रस्तुत नर को मुक्त करके उसके स्थान में अपनी बलि देने की इच्छा प्रकट की। इच्छा ही नहीं खड्ग से अपनी ग्रीवा पर प्रहार भी उसने कर दिया। मेघवाहन के इस आत्मोत्सर्ग पर आकृष्ट हो कर स्वयं वरुण देव ने प्रकट हो कर उस शिशु को रोगमुक्त करते हुए इसे आत्महनन से रोक दिया।

उक्त कथा की समाप्ति पर कल्हण यह कहने से भी चूके नहीं कि जन-साधारण के लिए ऐसी बातें मान्य नहीं हैं, केवल पौराणिक प्रथा के अधीन उन्होंने इसे अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है:—

"इत्याद्याद्यतनस्यापि चरितं तस्य भूपतेः
पृथग्जनेष्वसम्भाव्यं वर्णयन्तस्त्रपामहे।"

—तरंग ३, श्लोक ६३

संस्कृत साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि अतीत में भारतीय राजाओं के आश्रित कविगण अपने-अपने राजवंशों के इतिहासों को लिखित (या अधिकतर कण्ठस्थ) रूप में संभाले रहते थे। उक्त राजवंशों की प्रगति के साथ-साथ उक्त इतिहास को ललित काव्यमय छन्दों में बढ़ाये जाना एवं उसे अप-टु-डेट रूप में तैयार रखना भी उन लोगों का वंशानुगत कर्त्तव्य समझा जाता था। इसी प्रथा का एक ध्वंसावशेष रूप आज भी कहीं-कहीं देखने में आता है।

कल्हण ने इस प्रथा में एक परिष्कार किया। उन्होंने देश के

संयुक्त इतिहास के निर्माण का कर्त्तव्य कवि को सौंपा। राजतरङ्गिणी के आदि तरंग में आप लिखते हैं:—

"वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः।
स्थैर्यं याति यशःकायो येन स्वस्य परस्य च ॥३॥
कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
कवि-प्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः ॥४॥"

इस प्रकार कल्हण ने इतिहास को जहां साहित्य का एक आवश्यक अंग बनाने और उसे स्थायी रूप देने का सर्वमान्य आदर्श भारत में खड़ा किया, वहां उन्होंने अर्वाचीन साहित्यिक दृष्टिकोण में इतिहास की सहज नीरसता और शुष्कता को दूर कर इसे सरस और आकर्षक बनाने की प्रेरणा दिखाई।

राजा को ईश्वर रूप में देखने, उसके दुष्कृत्यों के गोपन और उस की मिथ्या स्तुति के पुल बांधने का दोष न केवल हमारे कवियों में सर्वत्र देखा गया है बल्कि हमारे राष्ट्रीय जीवन में भी इसने गहरा प्रभाव डाला है। परन्तु कल्हण इस दोष से एक सच्चे इतिहासकार के समान, न केवल सर्वथा दूर रहे, बल्कि उन्होंने प्रजाहित के पावन कर्त्तव्य पथ से भटक कर विलासी जीवन अपनाने वाले राजाओं की खूब खबर ली—

"कार्यन्न पश्येदलसः स्वयं यो:
भृत्येषु विन्यस्तसमस्तकृत्यः।
यष्ट्याश्रयस्येव विनष्टदृष्टे:
पदे पदे तस्य किलोपघातः॥"

भारत की मूलभूमि में होने वाले किसी भी ऐतिहासिक परिवर्तन और सार्वजनिक लहर से कश्मीर कभी अछूता नहीं रहा, इसके असंख्य अकाट्य प्रमाण राज-तरङ्गिणी के पृष्ठों में भरे पड़े हैं। बौद्ध धर्म को ही लीजिए—न केवल कश्मीर की जनता ने नव-चेतना का पावन संदेश लानेवाली इस धार्मिक क्रान्ति का गर्मजोशी से स्वागत किया, बल्कि कश्मीर के राजाओं ने कई अंशों में स्वयं

सम्राट् अशोक से भी इस धर्म के प्रचार-सम्बन्धी उत्साह में बाजी ले ली। इस प्रकार मूलभूमि से सर्वथा अलग-थलग रह कर भी भारत के सांस्कृतिक और विचारधारा सम्बन्धी आघातों का अमिट प्रभाव और स्थायी प्रतिक्रिया कश्मीर के इतिहास में मिलती है।

इतिहास-लेखक के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों, इतिहास के तथ्यों की छान-बीन के लिए अपेक्षित सामग्री के जुटाने की दुर्गमता का सामना कल्हण ने जिस अचिन्तनीय साहस और वैज्ञानिक कार्य-दक्षता से किया, वह भी एक ऐसे युग में जब कि इतिहास को पौराणिक मिथ्यावाद से बढ़ कर कोई महत्व नहीं दिया जाता था, यह सब भारत के अतीत की एक विलक्षण घटना है। कल्हण ने स्वयं कहा है—

दृग्गोचरं पूर्वसूरिग्रन्था राजकथाश्रयाः ।
मम त्वेकादशगता मतं नीलमुनेरपि ॥
दृष्टैश्च पूर्वभूभर्तृ प्रतिष्ठावस्तुशासनैः ।
प्रशस्तिपट्टैःशास्त्रैश्च शान्तोऽशेषभ्रमक्रमः ॥ २-१३-१४

इससे स्पष्ट है कि 'नीलमत पुराण' और 'राजकथाश्रय ग्रंथों' (ऐतिहासिक साहित्य) के अतिरिक्त राजतरङ्गिणी के प्रणयन में प्रशस्तियों, शिलालेखों, मुद्राओं, दानपत्रों और अधिकारपत्रों आदि की विविध सामग्री की सहायता प्राप्त की गई, जो कि इतिहास-विषयक हमारी प्राचीन धारणा को ध्यान में रखते हुए एकदम अद्भुत बात है।

('योजना' से साभार)

कश्मीर के शैव-दर्शन का महत्त्व

—विष्णुदत्त शास्त्री

भारत की जनता प्रायः प्रारम्भ से ले कर ही धर्मप्राण रही है। उसे ऐहिक सुखसमृद्धि की अपेक्षा पारलौकिक सुखशान्ति अधिक काम्य है। इसी लिए उसने भौतिक उन्नति इतनी नहीं की जितनी कि अध्यात्मिक। भारत के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों ने उस परम सत्ता को पाने के लिए कई प्रकार के प्रयोग तथा प्रयास किए हैं। भारत का प्राचीन वाङ्मय इस तथ्य का द्योतक है। हमारे प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ वेद हैं। उनमें ऋषियों ने परम सत्ता की प्रशंसा में कितने ही सुन्दर गीत गाये हैं। वैदिक साहित्य में हमें कितने ही दार्शनिक तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सर्वदेववाद वेदकाल की एक प्रधान दार्शनिक प्रवृत्ति थी। इसके साथ-साथ बहुत से वैदिक ऋषियों ने बहुदेववाद को अपनाया और उनकी प्रशंसा में कई प्रकार के मन्त्रों का उच्चारण किया। मुस्लिम-धर्म का एकेश्वरवाद वेदमन्त्रों में उपलब्ध हो जाता है। इन दार्शनिक विचारधाराओं के अतिरिक्त एक और दार्शनिक विचारधारा है। इस अद्वैतवादी (Monistic) दार्शनिक प्रवृत्ति का पूर्ण विवेचन हमें ऋग्वेद के दशम मण्डल के नासदीय सूक्त में मिलता है। शंकर का अद्वैतवाद इसी विचारधारा पर आधारित है। इन दार्शनिक विचारधाराओं के साथ-साथ वेदकाल में अन्य कई यज्ञ-यागादि प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहा है। जिस वेदकालीन सभ्यता को ऋषियों ने सारे संसार को आर्य बनाते हुए (विश्वमार्यं कृण्वन्तः)

समस्त भारत में फैलाया था, अब उसमें आडम्बर आने लगा। यज्ञों का विधान साधारण जनता के लिए न हो कर विशेष-विशेष जातियों के लिए रह गया। वैदिक धर्म आम जनता के लिए न रहा। वह धर्म सम्पन्न समाज की सम्पत्ति बन गया। यहां तक कि निम्न वर्ग को वैदिक मन्त्रों के उच्चारण करने का भी अधिकार न रहा। पुरोहित समाज ने स्त्रियों तथा शूद्रों से वेद पढ़ने का अधिकार छीन लिया। इसी वर्गभेद तथा वर्गसंघर्ष ने बुद्धधर्म को जन्म दिया। इस धर्म में प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह नीच है या उच्च, अपने कल्याणार्थ प्रयत्न करने का अधिकार है। यह धर्म जनता का प्रिय बनने लगा। इस धर्म ने सारे संसार में विख्याति पा ली। जिस तरह वैदिक धर्म में खोखलापन आ जाने से उसका ह्रास होने लगा था उसी तरह कालान्तर में बौद्धधर्म के प्रसार में शैथिल्य आने लगा। इसका प्रधान कारण यह था कि इसके साधनामार्ग में ईश्वर का कोई स्थान न था। धर्म के प्रतिक्रियारूप बौद्धधर्म ने वैदिक कर्मकाण्ड को खूब कोसा। इसी समय भगवान् शंकर इस भू पर अवतरित हुए। उन्होंने बौद्ध धर्म की बढ़ती नास्तिकता के प्रसार को रोका। वैदिक धर्म से ऊबी हुई जिस जनता ने बौद्ध धर्म को अपनाया अब वह जनता शंकर के प्रभाव में आने लगी। धर्मप्राण जनता ने शंकर के अद्वैतवाद को स्वीकार किया। यह साधनामार्ग यद्यपि सरल था पर आम लोग इसपर चल नहीं सकते थे। यह साधनामार्ग ज्ञानप्रधान है। मनन तथा निदिध्यासन इस मार्ग के विशेष अंग हैं। शंकर ने इस पद्धति से संसार का महान् कल्याण किया। वैदिक धर्म के विरोधियों को परास्त किया। यद्यपि इस साधनामार्ग की संसार में पर्याप्त प्रसिद्धि हुई पर फिर भी कुछ ऐसी जनता थी जिसे इस मार्ग में रुचि न थी। उसे ऐसी साधनापद्धति की आवश्यकता थी जिसमें साकार तथा निराकार साधना मार्ग को समान स्थान हो। इसी समय कश्मीर के शैव दर्शन शास्त्र का प्रारम्भ हुआ है।

एक तरफ शंकर अपने अद्वैतवाद द्वारा बौद्ध धर्म की नास्तिकता का खण्डन कर रहा था और दूसरी तरफ उत्तर भारत में कश्मीर के सन्त तथा दार्शनिक विद्वान् अपने शैवदर्शन द्वारा बुद्ध

धर्म के प्रचार को रोकने लगे। वेदान्तदर्शन तथा शैव दर्शन एक ही उद्देश्य को लेकर चले हैं। वेदान्त ने अद्वैतवाद का प्रचार किया है, इसी तरह कश्मीर के शैव दर्शन ने शिवाद्वैत को फैलाया है। दोनों दर्शनों की विचारधारा में कुछ थोड़ा सा साम्य होते हुए भी दोनों में महान् अन्तर भी है। दार्शनिक साधनामार्ग में वेदान्त यद्यपि अत्यन्त विख्याति पा चुका है पर इसका साधना मार्ग इतना सरल तथा वैज्ञानिक नहीं है जितना कि कश्मीर के शैव दर्शनशास्त्र का साधनामार्ग। वेदान्त दर्शन मननशास्त्र है। इस में ज्ञानयोग को प्रधानता दी गई है। कश्मीर के शैव दर्शनशास्त्र में ज्ञानयोग तथा क्रियायोग का सम्मिश्रण है। कश्मीर का शैव दर्शनशास्त्री पहले क्रियायोगी है और बाद में ज्ञानयोगी। कश्मीर के शैवदर्शन का साधनामार्ग युक्ति तथा मुक्ति को समान स्थान देता है। उसकी साधनापद्धति भौतिक जगत् अर्थात् निम्नस्तर से प्रारम्भ होती है। शैवशास्त्र में वर्णित कई प्रकार की भौतिक पदार्थों पर धारणाएं इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं। शैवशास्त्रियों की दृष्टि में यह भौतिक जगत् त्याज्य नहीं अपितु योग्य और ग्राह्य है।

कश्मीर का साधनामार्ग भारतीय दार्शनिक साधनापद्धतियों में एक महत्वपूर्ण स्थान लिये हुए है। इस साधना मार्ग में कई प्रकार की साधनाओं का समावेश है। इस पद्धति के साधकों में जाति पाति का कोई विशेष महत्व नहीं। इस साधनामार्ग का साधक बनने के लिये कोई खास जाति आदि की पाबन्दी नहीं। बाल, युवा, वृद्ध, पुरुष, स्त्री, शूद्र, उच्च वर्ग का पुरुष अथवा पतित जाति का व्यक्ति आदि इस साधना के लिये दीक्षित हो सकता है। साधक के लिये अत्यन्त उत्तम गुरु का चुनना अनिवार्य है। कश्मीर के शैव दर्शन शासन की बड़ी भारी विशेषता यह है कि इस में वेदशास्त्र की उपासनापद्धति मन्त्रयोग विद्यमान है। इसके साथ-साथ इस शास्त्र ने तत्कालीन तांत्रिक उपासनामार्ग का अक्षरयोग भी अपनाया है। शैवशास्त्र का छात्र इसमें सांख्यशास्त्र के ज्ञानमार्ग का दर्शन भी कर सकता है। पातंजल योग दर्शन के यम-नियम-प्राणायाम

आदि यौगिक क्रियाएं भी इस में सम्मिलित हैं। कश्मीर का शैव शास्त्र प्रारम्भ में जब कोई साधक साधना में प्रवृत्त होता है उसे साकार-मूर्तिपूजन का उपदेश देता है पर अन्त में उसे निराकार उपासना का पाठ पढ़ाता है। शाक्त दर्शन इस शास्त्र का एक प्रधान अंग है। शैव दर्शन के परम तत्त्व 'शिव' को पाने के लिये शक्ति धर्म के शक्ति तत्व को पाना अत्यन्त अनिवार्य है। शक्ति के बिना शिव का साक्षात्कार असम्भव है। इतना ही नहीं, शक्ति रहित शिव 'शिव' न रह कर 'शव' (मुर्दा) बन जाता है।

भारतीय दर्शन शास्त्र के दो पक्ष हैं—ज्ञानपक्ष और क्रियापक्ष भारत के षड्दर्शन इन दोनों पक्षों पर समान रूप से ज़ोर नहीं देते। कुछ दार्शनिक स्कूल ऐसे हैं जो ज्ञानभाग को अधिक महत्व देते हैं जैसे वेदान्तदर्शन तथा सांख्यदर्शन। कुछ ऐसे हैं जिनमें क्रियापक्ष को प्राधान्य दिया गया है जैसे योगदर्शन। कश्मीर के शैव दर्शन की एक और यह विशेषता है कि यह ज्ञानपक्ष तथा क्रियापक्ष को समान महत्व देता है। ये दोनों पक्ष शैव दर्शनशास्त्र में ज्ञानदीक्षा तथा क्रियादीक्षा के नाम से व्यवहृत हुए हैं।

पाशुपत आदि शैव दर्शनशास्त्र के कई स्कूल हैं, पर इस समय भारत में शैवदर्शन के केवल दो ही स्कूल प्रधानतया दृष्टिगोचर होते हैं। एक वह शैव दर्शन का स्कूल है जो उत्तर भारत में विकसित हुआ है। इसे ही आचार्यों ने 'कश्मीर का शैव दर्शन' यह नाम दिया है। दूसरा शैव दर्शन का स्कूल दक्षिण भारत में विद्यमान है। इसे सिद्धान्त स्कूल कहते हैं। दोनों स्कूलों में बाहिर से कुछ-कुछ साम्य प्रतीत होता है क्योंकि दोनों स्कूलों में तीन ही तत्त्वों को प्रधानता दी गई है। पर अध्ययन करने पर दोनों स्कूलों में वास्तविक भेद है। दक्षिण भारत का शैव दर्शन द्वैतवादी है पर कश्मीर का शैव दर्शन पूर्णतया अद्वैतवादी है। दक्षिण भारत के शैव दर्शन स्कूल के तीन प्रधान तत्त्व पति (शिव), पाश (माया जाल, संसार) तथा पशु (जीवात्मा) हैं जो क्रमशः कश्मीर के दर्शन शास्त्र के प्रधान तत्त्वों— शिव, शक्ति तथा नर के साथ मिलते हैं।

कश्मीर के शैव दर्शन का पारिभाषिक नाम त्रिक दर्शन, त्रिक

शास्त्र या त्रिक शासन है। इसका एक और भी 'षडर्ध शास्त्र' या 'षडर्ध क्रम शास्त्र' पारिभाषिक नाम हैं। कश्मीर के आचार्यों तथा दार्शनिकों की यह धारणा है कि इसका 'त्रिक' नाम इसके प्रधान तीन तत्त्वों शिव, शक्ति तथा नर पर ही आधारित है। ये तीन तत्त्व वस्तुतः एक ही शिव तत्त्व के रूप हैं। वह एक होता हुआ भी संसारिदशा में तीन रूप अपना लेता है। यह तीन रूप भिन्न होते हुए भी "एकत्व" लिये हुए हैं। विद्वानों का यह विचार है कि ये तीन तत्त्व वेदान्त के जीव ब्रह्म तथा माया, इन तत्त्वों से मिलते हैं। अतः वे विद्वान् कश्मीर के शैव दर्शन पर यह आक्षेप करते हैं कि यह दर्शन वेदान्त के ही तत्त्वों को तब्दील कर और उनका नूतन नामकरण करके चला है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं। वेदान्त तीनों तत्वों का एकत्व सिद्ध नहीं कर सकता। जीव और ब्रह्म का एकत्व तो है पर माया का स्थान उस दर्शन में पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं किया गया। शंकर ने उसे स्वयं अनिर्वचनीय कह कर छोड़ दिया है। वेदान्त में माया का यह गोल-मोल स्थान आज भी विद्वानों को अखरता है। अतएव बहुत से वेदान्त के समालोचक इसी आधार पर वेदान्त को अद्वैतवादी कहने में संकोच करते हैं। उस दर्शन में माया की व्याख्या युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।

कश्मीर के दर्शन में शक्तितत्त्व की व्याख्या पूर्णतया युक्तिसंगत है। शक्तितत्त्व शिवतत्त्व से भिन्न नहीं। वास्तव में शिवतत्त्व दो तत्त्वों का सम्मिश्रण है। वे दो तत्त्व हैं-ज्ञान और क्रिया। पहला तत्त्व अपने वास्तविक रूप में स्थिर है और दूसरा तत्त्व अस्थिर। साधारण शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि शिवतत्त्व 'विचार' या 'सोचना' का प्रतीक है जब कि शक्ति तत्त्व 'क्रिया' या 'कार्य' (Action) का चिन्ह। इन दोनों तत्त्वों की साम्यावस्था (Balanced State) ही शिवतत्त्व है। शैव दर्शन का तीसरा तत्त्व 'नर' है। शैव शास्त्रियों की यह धारणा है कि नर वस्तुतः शिव ही है। उसे 'नर' संज्ञा तभी प्राप्त होती है जब वह अपने असली स्वरूप को भूल जाता है। यदि उसे अपना स्वरूप ज्ञात हो जावे तो वह शिव ही है। कश्मीर के शैव दर्शन का मोक्ष सिद्धान्त भी शिवरूप-प्राप्ति है।

धार्मिकों की शब्दावली में कश्मीर के शैवदर्शन के त्रिक तत्त्व की चाहे कोई भी व्याख्या हो, पर आज का विज्ञानवादी मानव अपने

वैज्ञानिक ढंग से उसकी व्याख्या और तरह से ही करता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध तथ्य है कि हमारा मानव शरीर भौतिकतत्व (शरीर) तथा आध्यात्मिकतत्त्व (आत्मा) के सम्मिश्रण से बना है। इसी लिये इसे आत्म-शरीरयुक्त सम्मिश्रण (Psychophysical Unit) कह देना उचित ही है। आज के मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में यह शरीर बुद्धि या मनस्तत्व और शरीरतत्व के योग का नाम है। बुद्धितत्व का कार्य चिन्तन, मनन तथा विचार आदि है। इसी तरह शरीर तथा इन्द्रियों का धर्म काम करना है। शैव दर्शन के शिव-तत्त्व तथा शक्ति-तत्त्व क्रमशः ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं। सच्चा मानव वही है जो समान रूप से अपने बुद्धि-तत्त्व और शरीर-तत्त्व का उपयोग करता है। किसी कार्य के सम्बन्ध में विचार करना या उसकी योजना बनाना एक वस्तु है और उस योजना को कार्य रूप में परिणत करना दूसरी बात। आज की योजनाओं का निर्माण करना बुद्धि-तत्त्व का ही प्रतीक है। शैव-शास्त्रियों की परिभाषा में यही ज्ञानपक्ष है और इसका सम्बन्ध शिव से है। योजनाओं को क्रियात्मक रूप देना यह काम शरीर तथा इन्द्रियों का है। शैव दर्शन की शब्दावली में इसे ही शक्ति-तत्त्व कहते हैं। सही शब्दों में वही मनुष्य शिव है जो अपनी योजनाओं को क्रियात्मक रूप देता है। आज के मानव की या मानव-निर्मित समाज की उन्नति तभी होगी जब योजनाओं तथा उन्हें कार्य रूप में परिणत करने के लिये समान रूप से जोर दिया जाएगा। यही मानव का तथा समाज का शिव रूप है। स्कीमों का बना देना ही शिव (अच्छा) नहीं और न ही बिना सोचे-विचारे काम करना हितकर (शिव) है। विचार विनिमय से निर्धारित योजनाओं को कार्य रूप से परिणत करने पर हमारा तथा हमारे समाज का मन्त्र (शिव) होगा। कश्मीर के शैव-दर्शन शास्त्र का भुक्ति-मुक्ति रहस्य भी इसी पर आश्रित है और वह तभी चरितार्थ होगा। अस्तु, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से त्रिक-दर्शन के तीन तत्त्व शिव, शक्ति तथा नर क्रम से मानव की चेतनावस्था, अर्धचेतनावस्था या उपचेतनावस्था तथा अचेतनावस्था के प्रतीक हैं। मानव का दैनिक कार्य-क्रम प्रायः इन अवस्थाओं से सम्बद्ध रहता है।

वास्तव में ये तीन अवस्थाएं मनुष्य के शरीर के तीन तत्त्वों—आत्मा, बुद्धि या मन और शरीर की द्योतक हैं।

ये तीन मनोवैज्ञानिक अवस्थाएं भारतीय-दर्शन के तीन भेदों-अभेद, भेदाभेद तथा भेद का संकेत भी दे जाती हैं।

शाक्त-दृष्टिकोण से त्रिक-दर्शन के तीन तत्त्व शिव, शक्ति तथा नर परा-शक्ति (इच्छा शक्ति) परायस-शक्ति (ज्ञान शक्ति) तथा अपरा-शक्ति (क्रिया-शक्ति) के प्रतीक हैं। शाक्त लोग त्रिक-तत्त्व की इसी रूप में व्याख्या करते हैं।

तांत्रिक लोग त्रिक दर्शन के तीन तत्त्वों की और ही तरह से व्याख्या करते हैं। मैंने ऊपर भी संकेत किया है कि वैदिक साधना में मन्त्रयोग को महत्व दिया गया है। वैदिक-ऋषि परम तत्त्व को पाने के लिए मंत्रों के उच्चारण को ही साधन मानते थे। उनकी यह मन्त्रयोगसाधना वैयाकरणों की साधना-पद्धति पर आधारित है। वैयाकरण प्रायः उस असीम सत्ता को दो भेदों में बांटते हैं—एक शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शब्दब्रह्म द्वारा ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है। उनकी इस धारणा का संकेत व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित श्रीभर्तृहरि के वाक्यपदीय ग्रन्थ में मिल जाता है। (अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्वं प्रचक्षते। विवर्तत्यर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः)। इसमें सन्देह नहीं कि वैयाकरण शब्दतत्त्व को ही ब्रह्म स्वीकार करते हैं। वैदिक काल की मंत्रयोग-साधना में वैयाकरणों की साधना का यह भाव निहित है। तांत्रिक काल में यह मंत्र योग-साधना पद्धति वाग्योग वर्णयोग या अक्षरयोग के नाम से व्यवहृत होने लगी। तांत्रिकों की यह धारणा है कि यदि अक्षरों के मेल से बने हुए मन्त्रों द्वारा परम सत्ता को पाया जा सकता है तो एक एक अक्षर को उच्चारण करने से भी उस तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है। इसी धारणा को ले कर तंत्रशास्त्र की वर्णयोग-साधना पद्धति प्रवृत्त हुई है। तंत्रशास्त्र के वेत्ता अपनी साधनाप्रणाली में अ, इ, उ, को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

कश्मीर के शैव दर्शनवेत्ताओं ने इस दर्शन का नाम इसी

लिए षडर्धशास्त्र रखा है कि यह शास्त्र भी तांत्रिक उपासना पद्धति को अपनाता हुआ तीन अक्षरों—अ, इ, उ, को ही महत्त्व देता है। वास्तव में यह दर्शन अपनी तांत्रिक पूजापद्धति में षट्क, त्रिक तथा एक के पूजा विधान का निर्देश करता है। षट्क का अर्थ वर्ण माला के छः स्वर वर्ण—अ आ इ ई तथा उ ऊ हैं। इन्हीं छः वर्णों को शिव की छः शक्तियों—चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, एषणा शक्ति, उन्मेष शक्ति तथा ऊर्मि शक्ति, का प्रतीक माना गया है। इन छः अक्षरों का पूजन ही षट्क पूजन है। इनसे तीन लघु स्वरों अ, इ, उ, को निकाल कर पूजा करना त्रिकपूजन है। इन्हीं तीन अक्षरों को लेकर इस शास्त्र का नाम षडर्ध शास्त्र रखा गया है। जिस तरह त्रिक दर्शन के तीन तत्त्वों से ही सारे ब्रह्माण्ड का विकास हुआ है उसी तरह तीन अक्षरों से ही वर्णमाला के सारे अक्षर विकसित हुए हैं। तंत्र शास्त्र तथा त्रिक दर्शन की इस धारणा का याथातथ्य पाणिनि का व्याकरण सिद्ध कर देता है। त्रिक दर्शन ने तांत्रिक विचार-धारा का अनुसरण करते हुए वर्णमाला के स्वर तथा व्यंजन विभाग को क्रमशः शिव और शक्ति का स्थान दिया है। यह तांत्रिक वर्णयोग की उपासना कश्मीर के शैव दर्शन का एक अनिवार्य अंग बन गया है।

इसी तरह कश्मीर के त्रिकदर्शन ने षट्क पूजन और त्रिक पूजन के अतिरिक्त एक वर्ण 'अ' की पूजा पर भी ज़ोर दिया है। इस दर्शन का क्रमशः षट्कपूजन, त्रिकपूजन तथा एकपूजन इस रहस्य का उद्घाटन कर जाता है कि साधक को अपनी उपासना भेदावस्था से प्रारम्भ करके अभेदावस्था में समाप्त करनी चाहिए। वेदान्तशास्त्र अपने साधक को अभेद का पाठ पढ़ा कर उस अभेद की व्याप्ति भेद में सिखाता है, जब कि कश्मीर का शैव दर्शन अपने विद्यार्थी को भेद से उठा कर अभेद की तरफ ले जाता है। पहला साधनाक्रम इतना न्याय-संगत नहीं जितना कि दूसरा है। पूर्णता से अपूर्णता की तरफ जाना कठिन ही नहीं बल्कि कुछ अवैज्ञानिक भी है। दूसरी तरफ त्रिक दर्शन का साधनाक्रम अपूर्णता से पूर्णता की तरफ जाना सुगम ही नहीं अपितु वैज्ञानिक भी है। यहीं इस दर्शन का महत्त्व है।

डुग्गर प्रदेश का कलात्मक जीवन

—रामनाथ शास्त्री

महाभारतकालीन उत्तर भारत में वर्तमान जालन्धर, होशियारपुर तथा कांगड़ा प्रदेशों को मिला कर त्रिगर्त नाम का एक जनपद था। सम्भवतः इस जनपद में बहनेवाली तीन नदियों इरावती (रावी), विपाशा (व्यास) तथा शतद्रु (सतलुज) के कारण ही 'त्रिगर्त' नाम का जन्म हुआ। इसी त्रिगर्त प्रदेश के उत्तर-पश्चिम में इरावती (रावी) और चन्द्रभागा (चिनाब) नदियों के बीच के प्रदेश को 'मद्र' देश कहा जाता था। नकुल सहदेव की माता 'माद्री' इसी प्रदेश की राजकुमारी थी। मद्र देश से आगे चन्द्रभागा तथा सिन्धु के मध्य 'कैकय' देश था। भरत के ननिहाल इसी प्रदेश में थे। चन्द्रभागा से ऊपर वितस्ता (झेलम) तक अभिसार (वर्तमान पुंछ) जनपद था। मद्र देश और अभिसार की सीमाएं सम्भवतः मिलती थीं। आज हम डोगरे जिस प्रदेश में बसे हुए हैं, उसकी सीमाओं के अन्तर्गत महाभारतकालीन त्रिगर्त, मद्र, तथा अभिसार तीनों जनपदों का काफी इलाका शामिल है, लेकिन इस प्रदेश के लिए आज उन पुराने तीनों नामों में से कोई भी प्रयुक्त नहीं होता। सामान्यतया इसे जम्मू, कांगड़ा तथा हिमाचल (नया नाम) इन अलग-अलग प्रादेशिक नामों से अभिहित किया जाता है, तथा जातीय एकता की दृष्टि से इस प्रदेश को डुग्गर कहा जाता है। यहां के निवासियों को सामान्यतया 'डोगरा' तथा उनकी भाषा को

'डोगरी' कहा जाता है।

इस जाति के लिए प्रयुक्त 'डोगरा' इस संज्ञा ने विचारकों तथा विद्वानों को आज तक काफी परेशान किया है। बहुत समय तक साधारण जन इस शब्द का विकास संस्कृत के द्विगर्त शब्द से मानते रहे। 'द्विगर्त' शब्द की कल्पना का स्रोत था महाभारत कालीन 'त्रिगर्त' नाम। लेकिन 'द्विगर्त' शब्द से 'डुग्गर' शब्द का विकास भाषा-विज्ञान की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। 'गर्त्त' का डोगरी रूप 'गत्त' होता है, 'गर' नहीं। 'डिगर्त' कल्पना के वैज्ञानिक प्रत्याख्यान के अनन्तर डुग्गर इस शब्द के मूल-रूप के विषय में कभी दुर्ग ढ, कभी राजस्थानी 'डूंगर' अथवा डोंगर तथा यूनीनी ऐतिहासिक 'प्टोलिमी' के अनुसार डगोर डंगोर आदि अनेकों अनुमानों तथा अटकलों से काम लिया गया, लेकिन सत्य यही है कि अभी तक इस विषय में कोई सर्वसम्मत मत निश्चित नहीं हुआ। वैसे इस बारे में कई विद्वान गम्भीर खोज कर रहे हैं।

डोगरा जाति के लोग आज रियास्त जम्मू कश्मीर के जम्मू प्रान्त, पूर्वी पंजाब के जिला कांगड़ा, होशियारपुर तथा गुरदासपुर के उत्तरी प्रदेश और हिमाचलप्रदेश की शैवालिक पहाड़ियों से विभाजित निचले इलाकों में फैले हुए हैं। इनकी संख्या १९४१ की जन-गणना के अनुसार चालीस लाख के लगभग है, (जो अब निश्चय ही पचास लाख के आसपास पहुंच चुकी होगी)।

डोगरा जाति को वस्तुत: डोगरा-पहाड़ी जाति कहना अधिक उचित और स्वाभाविक होगा, क्योंकि डुग्गर प्रदेश के उत्तरी तथा उत्तर-पश्चमी पहाड़ी इलाकों में बसे हुए डोगरा जाति के वंशज अधिकतर पहाड़ी नाम से पुकारे जाते हैं। इस तरह रियासत जम्मू काश्मीर के जम्मू प्रान्त में पुन्छ से लेकर शिमला की पहाड़ियों तक भौगोलिक दृष्टि से अखण्ड भूभाग पर डोगरा पहाड़ी जाति का ही प्रसार है।

डोगरा-पहाड़ी जाति के सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक जीवन की एक दृढ़ तथा अविच्छिन्न परम्परा है। भाषा,

वेष-भूषा, रुचि व्यवहार और रीति-नीति के सम्मिलित सम्बन्धों की एकता से प्रेरित और सुबद्ध इस जाति ने भारत की इन महत्त्वपूर्ण उत्तरी सीमाओं में अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सफलताओं से देश के सामूहिक गौरव को सदैव उज्ज्वल किया है। 'डोगरा' शब्द वीरता का समानार्थक माना जाता है। भारतीय शौर्य के इतिहास में डोगरों का बलिदान साहस और उनकी सफलताएं एक गौरव पूर्ण स्थान रखती हैं। कांगड़ा के कटोच शासक संसारचन्द ने वैभवपूर्ण मुगलकाल में भी अपने प्रदेश में स्वतन्त्रता के दीपों को बुझने नहीं दिया। इधर स्व० महाराजा गुलाबसिंह ने जनरल ज़ोरावर जैसे असाधारण ख्याति वाले सेनानियों के सहयोग से वर्तमान रियासत जम्मू व काश्मीर की स्थापना की और उसकी सीमा को उत्तर में 'संसार की छत' (पामीर) तक बढ़ाया जहां रूस, चीन, अफगानिस्तान आदि देशों की सीमाएं परस्पर आलिंगन करती हैं। भारतीय सीमाओं को इन कठिन प्रदेशों तक प्रसारित करने के लिए डोगरा वीरों ने बहुत बड़ी संख्या में अपने जीवन अर्पण किये। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्राट् हर्षवर्धन के यशस्वी युग में भी भारतीय सीमाएं इन प्रदेशों तक नहीं पहुंच सकीं थीं। भारत की धरती को मासूमों के लहू की होली से रंगनेवाली और इस धरती से अपरिमित सम्पत्ति लूट कर वापिस लौटती हुई अमीर तैमूर की मदमत्त सेना को डुग्गर की इसी वीरभूमि पर इस धरती के वीर सपूतों ने भयंकर चिनौती दी थी और इसे डोगरा खड्ग की तीक्ष्ण काट से भली भान्ति अवगत किया था। जिन डोगरा वीरों ने आज से शताब्दी पूर्व इस राज्य के निर्माण के लिए वीर मृत्यु का स्वागत किया था, उन्हींकी सन्तान परीक्षा की घड़ी आने पर आज भी कर्तव्य से विमुख नहीं हुई। रियासत पर सहसा होने वाले पाकिस्तानी आक्रमण के तूफान के आगे छाती तान कर खड़े होने वाले मुट्ठी भर डोगरा सैनिकों ने अपने नेता स्वर्गीय ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह जी (महावीर चक्र से सम्मानित) के साथ अपूर्व शौर्य दिखा कर अपने प्राणों के मूल्य पर तब तक शत्रु को रोके रखा जब तक भारतीय सेनाएं इस प्रदेश की रक्षा के लिए श्रीनगर में न आ पहुंचीं। स्कर्दू तथा पुन्छ आदि के महत्त्व पूर्ण मुहाज़ों पर डोगरा

सैनिकों ने जो असाधारण शौर्य और दृढ़ता दिखाई, इतिहास में उसका स्मरण सदैव श्रद्धा से किया जाएगा।

केवल वीरता ही डोगरों का सच्चा परिचय नहीं। ओजस्वी वीरता की अपूर्व परम्परा से समृद्ध इस जाति ने कला के क्षेत्र में जो अद्वितीय साधना की है, उसने भी भारतीय कीर्ति और गौरव बढ़ाने में विशेष योग दिया है। चित्रकला के क्षेत्र में डोगरों की साधना और देन भारतीय कला के इतिहास में सुवर्ण-अक्षरों से लिखी जाने योग्य है। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में पहाड़ी चित्र-कला ने अपूर्व उन्नति की और असंख्य अमर चित्रों की रचना की। सदैव गौण और उद्देश्य को सर्वथा महान् स्वीकार किया है, भारतीय आदर्श की पवित्र परम्परा का, जिसने शक्ति को तथा जिसके प्रभावस्वरूप वाल्मीकि, व्यास और कालिदास तथा असंख्य दूसरे छोटे बड़े कवि-कलाकारों ने अपने विषय में मौन साध कर केवल अपनी कला-साधना को ही मुख्य समझा, डुग्गर के इन चित्रकारों ने भी श्रद्धापूर्ण पालन किया है। उसीका परिणाम है कि हमारे देश के तथा विदेशों के सभी प्रसिद्ध संग्रहालयों में तथा कला-भवनों में इस प्रदेश की गौरवान्वित साधना—पहाड़ी चित्रकला की अमर कृतियां तो आदर का स्थान प्राप्त किये हुए हैं, लेकिन उन चित्रों के साधक चित्रकारों के व्यक्तिगत जीवन की झलक पाने का कोई साधन हमें सुलभ नहीं है।

पहाड़ी चित्रकला भारतीय चित्रकला के विकास में स्वतन्त्र गौरवपूर्ण स्थान रखती है। पुन्छ की पहाड़ियों से लेकर गढ़वाल की पर्वतमालाओं तक इस कला के अनेकों प्रसिद्ध केन्द्र थे, जिनमें पुन्छ जम्मू, बसोहली, गुलेर, कांगड़ा और गढ़वाल के केन्द्रों में अनेकों साधकों ने अपनी अपूर्व साधना और कलारुचि के कमाल दिखाये हैं। मुगल चित्रकला और राजस्थानी चित्रकला की परम्पराओं से प्रभावित होकर भी डोगरा कलाकारों ने अपने चित्रों में बिल्कुल स्वतन्त्र और नवीन शैली को विकसित किया। संसार के मनीषि कला-पारखियों ने इस कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

रायकृष्णदास इस कला के विषय में लिखते हैं कि अजन्ता

के भित्ति-चित्रों के बाद चित्रकला के पूर्ण विकास की झलक हमें पहाड़ी चित्रों की क़लम में ही मिलती है। डाक्टर ओ. सी. गांगूली ने इन चित्रों के विषय में कहा था कि "पहाड़ी तथा राजस्थानी चित्रकला की विशिष्टता मुख्यतया उनकी रेखाओं के कौशल में है।"

जम्मू के भित्ति-चित्रों के विषय में अपने उद्गार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है—"ये चित्र आकार में बड़े नहीं हैं, परन्तु कल्पना इनमें निस्सन्देह विशाल है तथा इनके वस्तु विषय तथा चित्रणकौशल में महाकाव्योचित विशिष्टता है। कांगड़ा के चित्रकारों ने भारतीय चित्रकला के इतिहास में सबसे श्रेष्ठ अध्याय जोड़ा है।"

पर्सी ब्रौन लिखते हैं—"केवल श्रद्धापूर्ण साधना ही ऐसी कला को जन्म दे सकती है।"

लॉयनल हीथ अपनी पुस्तक, 'इण्डियन आर्ट इन दि ब्रिटिश एम्पायर एग्ज़िबिशन' में लिखते हैं—

"जम्मू के चित्रकारों पर मुगल चित्रकारों का प्रभाव निश्चित है लेकिन······मुगल चित्रकारों ने अपने चित्रों के लिए जो विषय चुने उनसे उनकी दरबारी प्रकृति का परिचय मिलता है, लेकिन इसके विपरीत जम्मू के चित्रकारों की विषय-निर्वाचन-रुचि से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये चित्रकार देहाती जीवन के चितेरे हैं।"

पहाड़ी चित्रकला, इस प्रकार भारतीय कला को डोगरों की असाधारण महत्त्व रखने वाली ऐतिहासिक देन है। इस कला में डोगरों के जीवन के सरल विश्वास, उनके प्राणों की पवित्र श्रद्धा और कलात्मकता के ही प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। डोगरों के वीर सेनानियों ने भारत को वे सीमाएं दीं जो कनिष्क और सम्राट् अशोक के काल में भी न मिली थीं, परन्तु इससे भी बढ़कर उन्होंने अपनी जगत्-प्रसिद्ध चित्रकला के रूप में भारतीय संस्कृति और कला को जो उपहार दिये उन्होंने इसकी कीर्ति को चार चान्द लगा दिये।

डोगरों की सरल तथा कलात्मक संस्कृति नृत्य और संगीत से असाधारण तौर पर झंकृत है। डोगरा जाति के जीवन में सामूहिक

नृत्योत्सव तथा पहाड़ी राग की मधुर अलापें सरसता और सजीवता प्रदान करके वाले तत्त्व हैं। डोगरों की वासभूमि इसी लिए अपने जनगीतों (लोक-गीतों) और लोकनृत्यों की विभूति से मालामाल है। पहाड़ी संगीत भारतीय रागों में अपनी सरल मधुरता और भाव-प्रवणता के लिए प्रसिद्ध है। इस रमणीय प्रदेश में यात्रा करने वालों को प्रायः इन पर्वतमालाओं, वनों और घाटियों को गुंजाने वाली मधुर तथा रसपूर्ण अलापों का संगीत मुग्ध कर देता है। लोक गीतों की अविच्छिन्न परम्परा में इस जाति के सुख-दुःख, विरह-मिलन, आशा-निराशा और अश्रु-हास की अपूर्व कलात्मक अभिव्यंजना हुई है। सैंकड़ों उत्सवों पर, दुःखसुख के भावुक क्षणों में, चक्की की घुमर-घुमर पर, चर्खे पर सूत के मंगलतार को बढ़ाने वाले हाथ की गति के साथ, बच्चों को लोरी देते हुए, प्रतीक्षा की व्याकुल घड़ियों में, विरह की जलन में, विभिन्न ऋतुओं के प्रेरक दृश्यों को देखकर डुग्गर की माताओं, बहनों और वधुओं के हृदय से जो करुण कोमल भावगीत बनकर वह निकलते हैं उनकी मधुरिमा-गरिमा ने इस धरती को सदैव संगीतमय किया है। पांचाल और शिवगिरि (शैवालिक) की सुन्दर पर्वत-श्रेणियों की रोमांचकारी ऊंचाइयों पर चढ़कर घास काटती हुई, सुन्दर पर्वतीय उपत्यकाओं की शाद्वलपूर्ण धरती पर भेड़-बकरियां चराती हुई, खेतों में अपने पुरुषों का भार बंटाती हुई, डुग्गर की भोली मिहनतकश ललनाओं की उन्मुक्त मधुर अलापें सम्मिलित नृत्योत्सवों में सम्मिलित स्त्री-पुरुषों की मधुर राग-ध्वनियां इन पहाड़ी दरिद्र इलाकों को संगीत की अपूर्व सम्पत्ति से सुरलोक के समान बना देती हैं।

इस देश की दूसरी नव-संस्कृतियों के समान डोगरा जाति के सांस्कृतिक जीवन में भी नृत्य उत्सवों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है द्विगर्त के निम्न मैदानी और कण्डी के प्रदेश में 'भांगड़ा' तथा फुम्मनियां नृत्य बहुत लोकप्रिय हैं। चैत्र महीने के साथ भांगड़ा नृत्य का मादक ढोल ग्रामों में तरुण नर्तकों के मनमें नाचने-गाने का कौतूहल जगाने लगता है। ग्रामों में तरुण-मण्डलियां जिन में शामिल होने वाले रसिक वृद्धों की संख्या भी कम नहीं होती, महीना

भर भांगड़ा नृत्य का अभ्यास करती हैं। खेतों में लहराती गन्दुम की बालियों के साथ साथ कृषकों के मन, हाथ, पैर और आंखें भी लहरा उठती हैं। इस नृत्य के बीच-बीच में संगीत का भी सुन्दर मेल चलता है। बैसाखी के पर्व दिन पर इस नृत्य की अन्तिम पराकाष्ठा होती है। इस दिन ग्राम-ग्राम से नृत्यमण्डलियां सुन्दर वेशभूषा में सुसज्जित हो घुंघरू, ढोल, बांसुरियां तथा चिमटा आदि वाद्ययन्त्रों से ताल जगाती हुईं मेला लगने के केन्द्रों की ओर चल पड़ती हैं, वह दृश्य देखते बनता है। ऊपर पहाड़ी प्रदेश में कृषकों के सामूहिक नृत्य को 'कुड' कहते हैं। 'कुड' प्रायः घरों से कुछ दूर के किसी जंगल के खुले धरातल पर, किसी देवता के स्थान पर होता है। रात के समय, सैंकड़ों मशालों के कोमल प्रकाश में धार्मिक वातावरण में सरल स्त्री-पुरुषों का यह सम्मेलन अपूर्व दृश्य उपस्थित करता है। भांगड़ा नृत्य से कुड की शैली और प्रकृति बिलकुल भिन्न होती हैं। भांगड़ा नृत्य में ओजगुण की प्रधानता होती है। उसमें असाधारण जोश, मस्ती और सरल अक्खड़पन रहता है, परन्तु कुड नृत्य कोमल, शान्त और अधिक कलात्मक होता है। नृत्य करने वाले नर्तकों के हाथ पैर बड़े सुन्दर कलात्मक सामंजस्य के साथ उठते-चलते हैं। वे गाते नहीं, केवल ढोल की गम्भीर ध्वनि और बांसुरियों की मादक कोमल स्वर-लहरी उस नृत्य की लय का निर्देशन करती है। नाचने वाले एक पंक्ति में सम्बद्ध हो कर एक गोल चक्र बना कर नाचते हैं और उपस्थित जनसमाज उस नृत्य-घेरे के बाहिर अलग-अलग संगीत-मण्डलियों में विभक्त हो जाता है। यह उत्सव प्रायः मध्यरात्रि को शुरू होता है और पूर्व दिशा से ऊषा की प्रथम झलक के साथ ही शान्त हो जाता है। सूर्य उदय होने तक वह स्थान पहले की तरह जनशून्य हो जाता है। जनता अपने अपने घरों को विदा हो जाती है। रह जाते हैं केवल देवता के पुजारी जो रात के चढ़ावे (धन, वस्त्र और चान्दी के छत्रों) के बंटवारे से जल्दी निपट नहीं पाते।

इस जाति के धार्मिक विश्वासों में कहीं कहीं आर्य जाति की प्राचीन धार्मिक आस्था और प्रणाली के चिन्ह भी सुरक्षित मिलते हैं।

इस प्रदेश के पहाड़ी प्रदेशों में रहने वालों के देवी-देवता जो इन लोगों की प्राचीन परम्परागत् श्रद्धा का युगों युगों से उपयोग करते आ रहे हैं—बिल्कुल स्थानीय हैं। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु और दुर्गा जैसे, देशव्यापी महिमा वाले देवताओं से भी ये लोग परिचित हैं, परन्तु इनके मन्दिर आपको इन पर्वतीय प्रदेशों में शायद ही कहीं मिलेंगे। आप यहां जगह-जगह शिलाओं से रचित अथवा काष्ठ-निर्मित छोटे-छोटे देवालय ही देख पायेंगे, जहां ये लोग समय-समय पर गाने-नाचने तथा पूजा-आराधना के लिए इकट्ठे होते हैं और बकरे-भेड़ों की बलि चढ़ा कर उत्सव मनाते हैं। इन देवताओं की अलौकिक क्षमता पर इन्हें असीम श्रद्धा है। डुग्गर में शक्तिपूजा के कुछ स्थान अति प्रसिद्ध हैं। निम्न पर्वतमालाओं के प्रदेश में राम, कृष्ण और शिव की उपासना के साथ-साथ शक्तिपूजा की बड़ी आस्था है। जम्मू शहर से तीस मील उत्तर की ओर त्रिकुटा के शृंगों के समीप पर्वत की एक रम्य गुहा में प्राकृतिक सुषमा से मण्डित श्री वैष्णो देवी का मनोरम स्थान प्रतिवर्ष लगभग लाख दो लाख यात्रियों को आकृष्ट करता है। तहसील बसोहली में कस्बा बिलावर के समीप शारका भगवती का प्राचीन मन्दिर (शारकालय जिसे स्थानीय भाषा में "सुकराला" कहते हैं) भी अपने चारों ओर दूर-दूर तक बड़ी महिमा रखता है। पहाड़ों में पहाड़ी देवताओं के पुजारी प्रायः ठक्कर जाति के लोग होते हैं, ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मणों के एतद्-विषयक एकाधिकार की स्थापना से पहले की यह परिपाटी युगों-युगों से अक्षुण्ण रह कर आजतक भी इन प्रदेशों में जीवित है। इनके धार्मिक विश्वासों में प्राचीनता अवश्य है, जटिलता नहीं। ये लोग सरल हैं—निष्कपट, परिश्रमी और अतिथिपरायण और सहज में ही विश्वास और ममता के बन्धनों में बन्ध जाने वाले। इन्हीं लोगों ने इस प्रदेश की संस्कृति की इन कलात्मक परम्पराओं को आजतक जीवित रखा है। निर्धनता का अभिशाप तथा सामन्तीशासन का शोषण और उपेक्षा, इन दो अभिशापों ने इस वीर कलाप्रिय जाति के सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक विकास की सभी सम्भावनाओं को रोके रखा है। नये युग की चेतना का प्रकाश अब इन महत्त्वपूर्ण उत्तरी सीमाओं के इन कलाप्रिय वीर रक्षकों की धरती पर भी पहुंचने

लगा है। इनकी तन्द्रा टूट रही है। एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की हलचल जन्म ले रही है। नये कवि, नये लेखक, नये कलाकार मातृभाषा (डोगरी) के माध्यम से नवीन प्रेरक साहित्य की रचना करने लगे हैं। अब तक इस जाति ने उपेक्षा के अन्धकार में रह कर जो कुछ खोया है आज उसका आहत सम्मान, उस गौरव को फिर से पाने के लिये प्रयत्नशील होने लगा है।

['सम्मेलन पत्रिका' के
'लोकसंस्कृति अंक' से साभार]

आलोचक चौहान जी

—पृथ्वीनाथ पुष्प

"नवीन क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के कारण जो प्रभाव इस समय विश्व-साहित्य में आये हैं उनको भारतीय समीक्षापद्धति में अवतरित करना शुक्ल जी द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को सम्पूर्ति देना है; उनकी विरासत को आगे ले जाने का जो दायित्व हमारे कमज़ोर कन्धों पर आ पड़ा है, उसके गुरुत्व का हम अनुभव कर रहे हैं।"

(साहित्य की परख, पृ० ७०)

आचार्य शुक्ल के निधन पर लिखे गये इन वाक्यों में चौहान जी की आलोचनात्मक चेतना ही बोल पड़ी है। शुक्ल जी की 'विरासत' को 'आगे ले जाने' का दायित्व निभाने के लिए वे पिछले पन्द्रह वर्ष से निरन्तर प्रयत्न शील रहे हैं और बड़ी सजगता से हिन्दी साहित्य की गतिविधि का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते आये हैं।

शुक्ल जी की 'पैनी' समीक्षा-पद्धति और भारतीय संस्कृति तथा साहित्य में उनकी 'गहरी पैठ' की चर्चा करते हुए उन्होंने उनके अभिनव दृष्टिकोण को सराहा है और मुक्त कंठ से स्वीकारा है कि कवियों के समकालीन समाज का विशद वर्णन करके उन्होंने 'पहली बार' प्रतिपादित किया कि 'कवि या कलाकार अपने समाज से अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है'।[1]

---

[1] दे०—सा० प०, पृ० ६७

पर कुछ ही वर्ष बाद उन्होंने शुक्ल जी की साहित्य-मीमांसा में एक 'अवैज्ञानिक आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम-धर्म की आदर्शवादिता' की अपेक्षा के साथ-साथ प्रवृत्तिनिरूपक मनोविज्ञान के आसरे आधुनिकता की पुट देने का प्रयत्न देखा। यद्यपि शुक्ल जी पर उनका यह दोषारोपण युक्तियुक्त नहीं 'कि अपनी तर्कशून्यता और दुराग्रह को ढांकने के लिए उन्होंने अनपेक्षित पाण्डित्यप्रदर्शन का रूपक रचा[2], फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि शुक्ल जी ने क्रोचे के सौन्दर्य-सिद्धान्तों की मनोऽनुकूल व्याख्या की, और आई. ए. रिचार्डस के वाक्यों द्वारा भारतीय लक्षणग्रन्थों की स्थापनाओं का ही समर्थन करवाया[3]। सच तो यह है कि शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना को प्राचीन और नवीन के समन्वय से व्यापक बनाने की जो चेष्टा की थी उसका परिणाम सन्तोषजनक नहीं हो सका, क्योंकि इसके सहारे वे हिन्दी के आधुनिक काल की विवेचना करने में तो असफल रहे ही थे, रीतिकाल के पर्यालोचन में भी वे लड़खड़ाए। भक्तिकाल की जिस 'लोकमंगल' भावना का उन्होंने प्रतिपादन किया था, वह वास्तव में उतनी आधिभौतिक नहीं थी जितनी आध्यात्मिक; और इसी लिए वह प्रगतिवादियों के समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण को सन्तुष्ट नहीं कर सकी।

शुक्ल जी के पश्चात् जहां एक ओर रसवादी आलोचकों की सैद्धान्तिक विवेचना ने मनोविश्लेषण की उपपत्तियों का आसरा ढूंढा, वहां दूसरी तरफ पश्चिमी आलोचना से प्रभावित विद्वान् समाज-शास्त्र के दर्पण में हिन्दी साहित्य की परछाइयां खोजते खोजते अपने ही मन का प्रतिबिम्ब देखने लगे। इन दोनों के बीच में डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जैसे स्वस्थ दृष्टिकोण वाले आलोचकों का नितान्त अभाव था; अधिक संख्या उन्हींकी थी जो नवीनता की सनक में आलोचना को 'आधा तीतर आधा बटेर' बना रहे थे।

ऐसी परिस्थिति में जब मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक भौतिकवाद को आधार बना कर साहित्य की संस्कृति की व्याख्या होने

---

[2]वही, पृ० ६ ; [3]वही

लगी तो हिन्दी के रूढ़िवादी ही नहीं, मनोविश्लेषणवादी, प्रभाववादी तथा अभिव्यञ्जनावादी समीक्षकों ने भी इस नई विचारधारा का विरोध किया। एक प्रसिद्ध अभिव्यञ्जनावादी ने अपनी मार्मिक शैली में तो यहां तक लिख डाला कि—"निःसन्देह प्रगतिवाद 'भाव' को नहीं 'अभाव' को लेकर चला है; फलतः वह भावुक नहीं विचारक है।"[4]

'भाव और अभाव' का यह मार्मिक शब्द-गुम्फन जिस दृष्टिकोण से आसूत्रित है उसकी असंगतियों को प्रकाश में लाना प्रगतिवाद का एक मुख्य काम रहा है। अतः चौहान जी ने शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति के साथ ही साथ उस समय के दूसरे आलोचकों की पद्धतियों पर भी दृष्टिपात किया और परिस्थिति को जांचने की कोशिश की। यद्यपि वे अपने अध्ययन और अनुशीलन को किसी सुसम्बद्ध और सर्वांगीण ग्रन्थ के रूप में उपस्थित नहीं कर पाये हैं, फिर भी उनके आलोचनात्मक लेखों के जो दो संग्रह अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमें उनके कृतित्व की महत्त्वपूर्ण पूंजी भरी पड़ी है। 'प्रगतिवाद' (१९४६) में संग्रहीत लेख 'हंस' 'साहित्य-सन्देश' 'नया साहित्य', 'साधना' और 'कहानी' आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हुए थे और कविता, कहानी, नाटक, आलोचना, रेखा-चित्र, रिपोर्टेज़, जनपदी भाषायें, राष्ट्रभाषा और साहित्य की व्यापक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न प्रश्नों पर 'प्रगतिवाद का दृष्टिकोण निर्दिष्ट करने तथा आधुनिक साहित्य के नये मान-मूल्यों की व्याख्या-स्थापना करने के उद्देश्य से लिखे गये थे।'[5] 'साहित्य की परख' में संकलित अधिकांश लेख 'हंस' के सम्पादन-कार्य को दृष्टि में रख कर ही लिखे गये हैं। अतः उन्हींके शब्दों में 'पूर्णता का आग्रह नहीं किया जा सकता।'[6]

कुछ भी हो; १९४७ ई० से पहले लिखे गये चौहान जी के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण लेख इन दो संग्रहों में मिलते हैं।

---

[4]साहित्य-संदेश, जून, ४४, पृ० ६७। [5]प्रगतिवाद, निवेदन।
[6]सा० प०, सूचना।

१९४७—५१ ई० तक वे हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र से कुछ दूर रह कर कश्मीर के सांस्कृतिक आन्दोलन में सहयोग देते रहे और 'कश्मीर देश व संस्कृति' इसी सहयोग का साहित्यिक प्रतिफलन है। १९५१ के अन्तिम दिनों उन्होंने 'नई चेतना' में 'मानव आत्मा के शिल्पियों के नाम' एक सन्देश भी लिखा, और उसके कुछ ही समय बाद दिल्ली लौट कर उन्होंने 'त्रैमासिक आलोचना' का सम्पादन शुरू किया। 'आलोचना' का जन्म, उन्हींके शब्दों में—'इस (संघर्ष-पूर्ण संक्रान्तियुग में हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक जगत के) गतिरोध को तोड़ने का संकल्प लेकर' ही हुआ है, और इसके सम्पादकीयों में उन्होंने अपने कई उन मन्तव्यों और सिद्धान्तों को एक नई स्फूर्ति और विशदता के साथ फिर से व्यक्त किया है जो उनके दो संग्रहों में प्रतिपादित हुए हैं, और साथ ही इनमें नई प्रगतियों के प्रभाव का भी स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है।

'हंस' के सम्पादन-काल में उन्होंने जब हिन्दी आलोचना को प्रगतिवाद की डगर पर चलाने का आन्दोलन किया तो उनके विरुद्ध हूहल्ला मचाया गया। अधिकांश विरोधियों ने तो भारतीय संस्कृति और साहित्य की सनातन मर्यादा की ही दुहाई दी और प्रगतिवाद को विदेशी कुसंस्कारों का परिणाम ठहरा कर धिक्कारा। ऐसी परिस्थिति में इस बात की प्रबल आवश्यकता थी कि प्रगतिवाद के आधारभूत तत्वों का विवेचन करके इसके मानमूल्यों की स्थापना और व्याख्या की जाए। इस विधायक कार्य में अधिकांश जागरुक आलोचकों को संलग्न देख कर उन्हें सन्तोष हुआ कि प्रगतिवाद का दृष्टिकोण 'उत्तरोत्तर विकसित और पुष्ट' होता जा रहा है। मान-मूल्यों की विवादग्रस्तता से वे विक्षुब्ध नहीं हुए, उन्होंने इसे 'वैज्ञानिक शोधवृत्ति का स्वस्थ चिन्ह समझा कि प्रगतिवादियों के निकट कुछ भी रूढ़ नहीं है और इस दिशा में अविरत गम्भीर प्रयत्न ही अभीष्ट है'।[7]

प्रगतिवादी दृष्टिकोण की चरितार्थता वे इसी में समझने लगे

---

[7] प्रगतिवाद, निवेदन।

कि इसमें 'युगों के रूढ़ संस्कारों और रागद्वेषों की अस्वस्थ, निर्जीव परम्पराओं के स्थान पर नये भावमूल्यों, नये सौन्दर्य-मानों और साहित्य तथा समाज के नये सम्बन्धों की स्थापना ऐसे व्यापक आधार पर करना है जिसमें प्राचीन की स्वस्थ प्राणदायक परम्पराओं का भी नये वस्तु-सत्य के स्पर्श से नित्य-नूतन संस्कार होता चले और इस प्रकार वे अपने को अक्षुण्ण रख सकें, और हमारे वर्तमान और भावी जीवन को प्राचीन ज्ञान और भावसौन्दर्य की निधि से निरन्तर समृद्ध करती चलें'।[8]

परन्तु उन दिनों प्रगतिवाद के नाम पर कई भ्रान्तियां फैली हुई थीं और किसी भी प्रकार की नवीन साहित्यिक प्रवृत्ति को प्रगतिवादी 'लेबल' देने का फैशन चल पड़ा था। कई साहित्यिक तो परम्परा से नितान्त ही सम्बन्ध-विच्छेद करके मनमानी में ही प्रगतिशीलता को चरितार्थ समझते थे, और ऐसे विद्वानों की भी कमी नहीं थी जो पाश्चात्य साहित्य की नई हलचलों को हिन्दी साहित्य में भी बिल्कुल उसी रूप में अवतरित करना चाहते थे। कुछ एक ने भारतीय आदर्शवाद को ही नई प्रगतियों से सम्पृक्त करने का बीड़ा उठाया था, और कुछ समीक्षक प्रतीकवाद, अभिव्यञ्जनावाद और प्रकृतिवाद के यान्त्रिक समर्थन में ही हिन्दी आलोचना की उन्नति का रहस्य समझने लगे थे। ऐसे आलोचक भी उभर रहे थे जो इन सब प्रवृत्तियों के समुच्चय को ही समन्वय का नाम देकर प्रगतिवाद की एक व्यापक रूपरेखा तैयार करने में हिन्दी आलोचना का भविष्य उज्ज्वल बताते। उनकी दृष्टि में सच्ची प्रगतिवादिता इसी में थी कि आलोचना में किसी भी वाद-विशेष का पूर्वाग्रह न आने पाए।

अतः चौहान जी ने पूरे ज़ोर से इन प्रवृत्तियों का प्रतिवाद किया और स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि 'यह कोई नई बात नहीं है कि जबकि साहित्य की विचारधारा का आधार किसी दार्शनिक सिद्धान्त को बताया गया हो', क्योंकि 'हिन्दी के भक्तिकाव्य के

---

[8]वही।

दार्शनिक आधार पर अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और समन्वयवाद आदि रहे हैं—इसे तो पुराने आलोचक भी स्वीकार करते आये हैं'।[9] अन्तर केवल इतना है कि प्रगतिवाद ने पहली बार आदर्शवाद को साहित्य का ठोस आधार बनाने के अयोग्य ठहरा कर सामाजिक यथार्थवाद को ही सच्चे जन-साहित्य का असली उद्भावक प्रमाणित किया।

इस विषय में चौहान जी का सबसे पहला महत्त्वपूर्ण लेख १९४१ ई० का है जिसमें उन्होंने प्रगतिवाद को स्पष्ट शब्दों में 'साहित्य की वह धारा' जताया जो 'पूंजीवाद' के अन्तिम काल में उत्पन्न हो कर एक नये जनसाहित्य का निर्माण करती है'।[10] ऐसा करने में यह धारा तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक यह पूंजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयाबियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण न करे। इस ग्राहक शक्ति के कारण यह नई धारा मनुष्य के सम्पूर्ण अनुभव का समन्वित रूप है; और इसी लिए आदर्शवाद का भी यथार्थ तत्त्व इस में समाहित है। परन्तु आदर्शवाद से यह नई धारा सर्वथा भिन्न है। आदर्शवाद तो प्रतिगामी है, क्योंकि वह आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं को चेतना न देकर उनके प्रति हमें अनभिज्ञ कर देता है। अतः यह आदर्शवाद साहित्य को प्रगतिशील नहीं बना सकता। साहित्य का सौन्दर्य-मूल्य तो किसी कार्य-विशेष के लिए सामाजिक शक्ति का संगठन करने में ही है, क्योंकि 'सामाजिक सम्बन्ध ही कला में सौंदर्य का गुण प्रदान करते हैं, और इन सम्बन्धों में एक आन्तरिक संघर्ष और आन्तरिक विरोध है, जिन्हें कला के अन्दर ही शान्त किया जा सकता है। परन्तु आदर्शवाद में सौन्दर्य-तत्त्व एक ही निरपेक्ष गुण बन जाता है'।[11]

इससे चौहान जी का यह अभिप्राय भी नहीं कि सामाजिक वास्तविकता का यान्त्रिक चित्रण ही प्रगतिवाद को स्वीकार है। इस प्रकार से सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही जो कलाकार किसी रचना के

---

[9]प्रगतिवाद, पृ० १। [10]वही, पृ० १। [11]प्रगतिवाद, पृ० ५।

सौन्दर्य या मूल्य को निर्भर समझते हैं उन्हें चौहान जी कुत्सित-समाजशास्त्रीय पुकार कर फटकारते आये हैं।[12]

अभिव्यञ्जनावाद, रीतिवाद अथवा फोटोग्रैफिक यथार्थवाद तो प्रगतिवाद की शैली नहीं, प्रगतिवाद का आधार सामाजिक यथार्थ-वाद और सामाजिक रोमैण्टिसिज़्म ही है जो 'साहित्य की विचार और भाव-वस्तु और उसके अनुरूप ही वस्तुप्रकाशन की विधि, रूपविधान या शैली दोनों पर समान रूप से ज़ोर देता है'।[13]

इस प्रकार प्रगतिवाद रोमैण्टिक आलोचना की सफलताओं को स्वीकार करके उसका विकास करता है और उसे एक सामाजिक-भौतिक आधार प्रदान करता है। रोमैण्टिक आलोचना जिस 'हम' से साहित्य का सम्बन्ध जोड़ती है, वह प्रगतिवाद में संघर्षरत शोषित जनता का 'हम' बन जाता है।[14]

इस दृष्टि से उन्होंने 'इल्यूजन एण्ड रिएलिटी' के आधार पर कविता की जो आधुनिक व्याख्या की उसमें उन्होंने कविता को सामाजिक जीवन के समान ही 'स्वतन्त्रता का अस्त्र' स्वीकार किया, क्योंकि कविता 'वर्तमान परिस्थितियों के प्रति' उसे बदलने के लिए एक नये दृष्टिकोण से मनुष्य के भावजगत् का संगठन करने का प्रयत्न करती है।[15] इसके द्वारा सामाजिक जगत से सामाजिक 'अहं' का जन्म होता है और व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव में सम्मिलित कर दिया जाता है। कविता आत्माभिव्यक्ति नहीं, बल्कि आत्मसमाजीकरण है, और 'कला-कला के लिए' की रट लगाने वालों के अनुसार वास्तव में कला कलाकार के लिए ही महत्त्व रखती है, क्योंकि कलाकार उस समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहता जो उसे यन्त्रणाएं देता है।[16]

इस प्रकार कविता की मूलभूत प्रेरणा को स्पष्ट करके चौहान जी ने चित्र-कल्पनावाद और अतिवस्तुवाद के उस 'स्वच्छन्द सम्बन्ध'

---

[12]वही, पृ० ५। [13]वही, पृ० ६। [14]वही, पृ० ४।
[15]वही, पृ० ११०—४। [16]वही, पृ० ८८।

विषयक भ्रम को भी दूर किया जो 'आवश्यकता की अज्ञानता' को ही स्वतन्त्रता समझता है।

आधुनिक हिन्दी कविता में इन गुणों की पृष्ठभूमि को चौहान जी ने बड़ी सफ़ाई से यों प्रस्तुत किया—रीतिकालीन सीमाबन्धनों को तोड़ कर इस नई कविता ने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की और एक नवोत्थित वर्ग के भ्रमों की सृष्टि हुई। रीति-नीति के रूढ बन्धनों से उन्मुक्त हो कर इसने नये समाज की नई विडम्बनाओं, नई विफलताओं और नई सीमाओं के प्रति भी असन्तोष की भावना प्रकट की। व्यक्तिवाद की प्रबलता ने 'निराशा, पराजय और आत्मसमर्पण के भाव' मुखरित किये हैं तो 'सामाजिक जीवन से कविता का क्षेत्र अलग होने लगा और अव्यक्त तथा अमूर्त्त भावनाओं की अभिव्यक्ति फूट पड़ी।'

'छायावाद में असन्तोष भावना', तथा पंत, अंचल और अश्क सम्बन्धी लेखों में चौहान जी ने नई समालोचना और समीक्षा का जो ठोस रूप पेश किया उसके सहारे उनका नाम हिन्दी आलोचकों में बहुत महत्त्वपूर्ण हो पाया है।

'साहित्य की परख' लेख में चौहान जी ने इन समस्याओं की और भी विस्तृत विवेचना की और साहित्य की परख के लिए एक वैज्ञानिक कसौटी निर्धारित करने की प्रबल आवश्यकता को दोहराया। प्रगतिवाद की विशेषता यही है कि इसने 'साहित्या-लोचन को एक व्यापक जीवन-दर्शन का आधार दिया है और द्वन्द्वात्मक पद्धति से सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण का विकास करने की प्रेरणा की है। द्वन्द्वात्मक विचार-प्रणाली के अनुसार सारसंचय या समुच्चय ही समन्विति नहीं, समन्विति तो किसी 'दार्शनिक विचार संयोगसूत्र में गुंथ कर ही सम्भव है'।[17]

कसौटी की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में चौहान जी ने महत्त्व-पूर्ण प्रश्न यह उठाया कि इससे न केवल आधुनिक साहित्य को ही

---

[17]सा० प०, पृ० २७।

परखा जाय बल्कि प्राचीन साहित्य का भी सही मूल्याङ्कन सम्भव हो; नहीं तो जैसा कि उन्होंने कुछ कथित प्रगतिवादियों के बारे में लिखा है, "प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब उनके मानदण्ड कुछ होते हैं, जब जीवित लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक के मानदण्ड बदलते रहते हैं।"[18] परिणाम यह होता है कि साहित्य की कसौटी अवसरवादी बनती जाती है। इस अवसरवादिता के मूल में साहित्य के 'कलापक्ष' और 'सामाजिक पक्ष' से सम्बद्ध वह द्वैतभावना है जो प्रगतिवादी समीक्षकों में काम करती रहती है। इसी द्वैतभावना के कारण कुछ आलोचक 'पौराणिक त्रिशंकु' ही बने रहते हैं, और कलाकार और समाज के बीच किसी सक्रिय सामंजस्य का अनुमान नहीं कर पाते, प्रत्युत कुत्सित मनोवैज्ञानिकता के शिकार होकर विज्ञान की मान्यताओं को साहित्य पर ज्यों का त्यों घटित करने लगते हैं।

दूसरी ओर सारसंचय का दामन पकड़ कर चलने वाली 'मात्र सापेक्षता-मूलक सामाजिक दृष्टि ही' फूहड़ और कुत्सित समाज-शास्त्रीयता को जन्म देती है, और 'नूतन रहस्यवाद' की ओर आकृष्ट होकर, कला की परख के लिए एक प्रबुद्ध अभिजात वर्ग की कल्पना करने वाले आलोचक प्रगतिवाद का विरोध करने लगते हैं।

अतः प्रगतिवादी समालोचकों के लिए आवश्यक बन जाता है कि वे कला-समीक्षा को 'नीर-क्षीर विवेचन' तक ही सीमित न रहने दें, बल्कि इसे कला के 'मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल' करने के योग्य बना कर उसके 'सौंदर्य-मूल्यों का निरूपण' करें। साहित्य की परख का यही प्रगतिवादी उद्देश्य है।[19]

कला की सार्थकता के सम्बन्ध में विचार करते हुए चौहान जी ने एक गम्भीर समस्या उठाई है कि क्या कलाकार या उसकी कृति के लिए प्रगतिवादी होना जरूरी है? उनका मन्तव्य है कि 'कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन-चेष्टा बाह्य जीवन के अनुभव और सौंदर्यमूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्याख्या, सामंजस्य और

---

[18] सा० प०, पृ० १८। [19] सा० प०, पृ० ५।

मुक्तिकामी निसर्ग चेष्टा से उत्प्रेरित होती है।' और 'अपने संस्कृति-विधायक रूप में कला या साहित्य भी स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अतः यह जरूरी नहीं है कि कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त को सामने रख कर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बना दे।'[20]

चौहान जी के इस मन्तव्य की तह में उनकी यह धारणा है कि जो प्रत्यक्ष (आर्बावयस) और बोधगम्य है वह कला या कविता नहीं हो सकती। उसकी सार्थकता इसी में है कि वह मनुष्य-मात्र की चेतना को अधिक संश्लिष्ट और समृद्ध बनाती है।[21] साहित्य या कला तो अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्बमात्र प्रस्तुत नहीं करती, प्रत्युत समाज के 'अहं' का परिष्कार भी करती रहती है। अतः प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य यदि 'कोरा सामयिक साहित्यिक आन्दोलन' है तो चौहान जी साहित्य की दृष्टि से उसका मूल्य नगण्य ही समझते हैं।[22] बंगाल के 'फासिस्ट विरोधी लेखक और कलाकार संघ' के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर भाषण करते हुए उन्होंने अर्थगम्भीर शब्दों में पूछा था—"हमें प्रचार की चीजें नहीं लिखनी हैं, साहित्य लिखना है—क्या इस प्रवंचना में पड़ कर हम अपने कर्त्तव्य को भुला सकते हैं? साहित्य-कार की विशेषता यही है कि उसके अनुभूत की अभिव्यक्ति कलात्मक होती है......फिर हमारे मन में प्रचार और साहित्य का प्रश्न उठ कर द्वन्द्व क्यों मचाता है? और जब हम अपनी लेखनी के अस्त्र से लड़ने की घोषणा करते हैं तो क्या हमारा आशय अपनी रचनात्मक शक्ति और कला-नैपुण्य से नहीं होता?"[23]

ठीक है; प्रगतिवादी होने के लिए साहित्य को पहले साहित्य तो होना ही पड़ेगा; पर यह बात किसी रहस्यवादी की-सी लगती है कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। क्या उसका स्वभाव अपने समाज के वास्तव से प्रभावित और निर्धारित नहीं होता? और क्या चौहान जी के दृष्टिकोण में कहीं कहीं वैसी ही विसंगति नहीं पाई

---

[20]सा० पा०, पृ० २५। [21]सा० प०, पृ० ७। [22]सा० प०, पृ० १६। [23]हंस, जन०—फ०, ४४; पृ० २४५।

जाती जैसी उन्होंने 'त्रिशंकु' में खोज निकाली है।

कहीं पर तो वे प्रगतिवाद को साहित्य की वह[24] धारा मानते हैं 'जो पूंजीवाद के अन्तिम काल में उत्पन्न होती है' ; और कहीं पर वे स्पष्ट करना चाहते हैं कि 'प्रगतिवाद साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण[25] है। वैसे ही जैसे रससिद्धान्त साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। कहीं पर तो वे कविता और कला को सामाजिक प्रभाव का एक (स्वयं सिद्ध) अस्त्र मानते हैं और काडवेल की तरह 'मनुष्य की स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन' बतलाते हैं[26] और कहीं पर वे चेतना के विभिन्न धरातलों के समान ही साहित्य की कोटि में भी ऊंचे और नीचे धरातल स्वीकार करके आधुनिक प्रगतिवाद को उस मार्क्सवाद की ही साहित्यिक परिणति ठहराते हैं जो मानव चेतना की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मंज़िलों की प्रेरक विचारधाराओं में सुधारवाद, राष्ट्रीयता, और मानववाद के बाद विकसित हुई है[27]। और आज वे 'इस साधारण, पर अब तक अनदेखे भेद को समझ लेना लाभदायक समझते हैं कि 'प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद, ये दोनों एकार्थ नहीं हैं और न प्रगतिशील लेखक का प्रगतिवादी होना ही ज़रूरी है'।[28]

आख़िर प्रगतिशीलता और प्रगतिवादिता का द्वन्द्व खड़ा करने की आवश्यकता ही क्या है? क्या उनके 'प्रगतिवाद' लेख में इस द्वन्द्व की वह कल्पना सोई पड़ी थी, जो 'आलोचना' में जाग उठी है?

इस द्वन्द्व से व्यथित हो कर ही चौहान जी की आलोचनात्मक चेतना कुछ विसंगतियों का शिकार हो रही है। यदि वह प्रगतिशील साहित्य को 'आज' की, किसी विशेष 'युग', 'वर्ग' या 'देश' की चीज़ नहीं मानना चाहते, भले ही न मानें, पर जब वे प्रगतिशील साहित्य

---

[24] प्रगतिवाद, पृ० १। [25] आलोचना, प्र० ४, पृ०।
[26] सा० प०, पृ० २४। [27] हंस, जन०-फ० ४४, पृ० २४५।
[28] आलोचना, ४, पृ० ४।

को 'सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विलास' मानने में अपने एक सहयोगी से असहमत हो कर इसे स्वयं 'सांस्कृतिक विरासत' मानने पर ज़ोर देते हैं तो साहित्य के आगे 'प्रगतिशील' विशेषण लगाने की आवश्यकता ही क्या ? उनका यह समाधान कि ऐसा करने का उपयोग केवल तब है जब हम कला या साहित्य के आनन्ददायी मूल्यों का नहीं, बल्कि विशेष रूप से चेतना-विकासी नैतिक मूल्यों का ही निर्देश करना चाहें, कुछ हल्का लगता है, क्योंकि मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से आनन्ददायी मूल्यों और नैतिक मूल्यों में समन्वय का अभाव कलागत दोष ही ठहरता है।

'यथार्थ और साहित्य' की चर्चा करते हुए चौहान जी इस तथ्य को 'रेखांकित' करना ज़रूरी समझते हैं कि 'महान साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, अतः उनकी एकमात्र कसौटी भी उनका यथार्थवाद ही है'।[29] भला, अगर कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो यथार्थवाद ही उसकी कला की एकमात्र कसौटी कैसे ठहराई जा सके ? और चौहान जी के इन विचारों की क्या व्याख्या की जाए कि 'चिरजीवी प्राणवान् साहित्य की विरासत प्रगतिशील है, क्योंकि उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और सांस्कृति उन्नति में योग दिया है, दे रही है, और इस युग में भी जो साहित्य जीवन के यथार्थों को गहराई और कलात्मक सचाई से प्रतिबिम्बित करता है, वह भी प्रगतिशील है, चाहे उसकी रचना करने वाले लेखकों का व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी'।[30]

सत्य की सरलतम व्याख्या चौहान जी ने यह की है कि 'जो अपनी उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है, वह असत्य है, और जो उभर रहा है, वही सत्य है;[31] क्योंकि परिवर्तन ही शाश्वत सत्य है। अतः जीवन-वास्तव का सत्य भी परिवर्तनशील और युगसापेक्ष होता है और इस सत्य के चित्रण के कारण ही महान् लेखकों की रचनाओं के 'अपने-अपने काल की सामाजिक

[29] वही, पृ० ३। [30] आलोचना, ३, पृ० ३। [31] वही, पृ० ३।

विचारधाराएं व्यक्त हुई हैं और उनकी कृतियां अपने समय के ऐतिहासिक वास्तव से पूर्णतः सम्बद्ध हैं। ......उन्होंने मनुष्य को ही प्रमाण और प्रतिमान माना, जिससे उनकी सहानुभूतियां मानवमात्र तक प्रसारित हुईं—विश्वजनीन बनीं'।[32] पर सत्य की यह व्याख्या तो आदर्शवादी नहीं। अतः कलाकार को इस सत्य का चित्रण करने के लिए कोरे आदर्शवाद के धुंधलकों से बाहिर निकलना ही पड़ेगा।

परन्तु चौहान जी के विचार में इतिहास ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है जिनसे साबित होता है कि अनेक श्रेष्ठ और प्राणवन्त रचनाओं के लेखकों का 'सचेत दृष्टिकोण अत्यन्त पिछड़ा हुआ और अपने युग की प्रगतिशील विचारधाराओं की सापेक्षिता में प्रतिक्रियावादी भी रहा है'।[33]

चौहान जी इस असाधारण अवस्थिति की विवेचना भी करते तो अच्छा होता। उन्होंने इतना बताने पर ही बस किया कि 'श्रेष्ठ प्रतिभा के लेखक इन (एकता, समानता, भाईचारा, न्याय, आज़ादी, प्रजातन्त्र और समाजवाद आदि) विचारों को सिद्धान्त रूप से ग्रहण किये बिना ही केवल सहज भावना से ही रचना में व्यक्त कर सकता है'।[34] पर क्या सहज भावना कहलाने वाली विचारधारा भी समाज-निरपेक्ष हो सकती है? और जब चौहान जी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि 'कोई लेखक जितनी मूर्त्तिमत्ता और मार्मिकता के साथ अपनी रचना में अपने युग के प्रगतिविधायक महान् विचारों को प्रतिबिम्बित करता है, उसकी रचना उतनी ही सारपूर्ण और उत्प्रेरक होती है, तो वे भूल जाते हैं कि रचना को युग के प्रतिविधायक महान् विचारों का मूर्त्तिमान रूप बनाने के लिए उनमें निश्छल आस्था अनिवार्य है और उन्हें अपनाकर ही सहज सुन्दर अभिव्यक्ति दी जा सकती है। इस अनिवार्यता की ओर चौहान जी संकेत करते अवश्य दिखाई देते हैं जब वे लेखकों

---

[32] आलोचना, ३ पृ० ४। [33] नई चेतना, ४, पृ० ३७।
[34] वही, पृ० ३६।

और कलाकारों से संघर्षशील जनता की इस मांग की चर्चा करते हैं कि 'वह जीवन-वास्तव को सही, मूर्त्त, सम्पूर्ण, सक्रिय रूप से प्रतिबिम्बित करें'।[35] तो सही चित्रण के लिए सचेत दृष्टिकोण की आवश्यकता से इनकार क्यों ?

सच तो यह है कि चौहान जी स्वयं भी कुछ वैसी ही सार-संचय-भावना के वश में होते जा रहे हैं जिसका वे प्रतिवाद करते आये हैं। 'को-मो-जो' ने 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' का जो नया नारा लगाया उसने हिन्दी-समालोचना में भी एक हलचल मचाई, और चौहान जी ने भी उसकी ग्राहिता से आकृष्ट होकर साहित्य की ऐसी व्यापक व्याख्या करना आवश्यक समझा जो इस संयुक्त मोर्चे को सम्भव बनाए। पर अपने प्रतिस्पर्धियों से खीझ कर उन्होंने 'कुत्सित-समाज शास्त्रियों' को नीचा दिखाने के लिए कुछ और ही राग छेड़ा। 'मानव आत्मा के शिल्पियों के नाम' लेख में इसी लिए आलोचनात्मक विवेचना उतनी नहीं जितना जलीकटी सुनाने का आवेश मुखर हो उठा है। निःसन्देह इसे 'अपील' के रूप में पेश किया गया है, पर इससे प्रगतिशील लेखकों को कोई नई राह नहीं सुझाई जा सकी है। हां, उनका यह आत्मनिवेदन अभिप्राय-गर्भित अवश्य है कि—

"पन्द्रह साल हो गये जब से मार्क्सवाद, कम्युनिस्ट पार्टी और जनता का सक्रिय कार्यकर्ता रहा हूं। आजीवन रहूंगा। यही मेरा जीवन है। यही मेरा वस्तुदर्शन और विज्ञान है, केवल पढ़-लिख कर पाया हुआ ही नहीं, वरन् उपचेतना में आत्मसात् होकर रक्तमांस में घुलमिल कर हृदय में पुनः जन्मा। वस्तुज्ञान के इन्द्रियज बोध के साथ-साथ मन में सतत पनपा, वृत्तियों, सम्वेदनों, मनोवेगों और सहज-भाव-प्रतिक्रियाओं के सहारे चेतना में विकास पाया—मार्क्सवाद मेरे जीवन का श्वास है।"[36]

और उनकी इस घोषणा के नाते हम उनसे अनुरोध करते हैं

---

[35] वही, पृ० ३६। [36] वही, ४, पृ० ३४।

कि वे अपने नये मन्तव्यों पर कुछ और मनन करके 'गम्भीर, सिद्धान्तपरक, आलोचना साहित्य'[37] को परिपुष्ट बनाने में और भी सचेत दिग्दर्शन करें।

[सुश्री शचीरानी गुर्टू द्वारा सम्पादित
'हिन्दी के आलोचक' (१९५५) से साभार]

⊛

[37] आलोचना, ४, पृ० ६।

शान्ति का मूल, "कर्म"

—कुमारी शकुन्तला सेठ

रात्रि के गहन अन्धकार के बाद प्रभात की स्वर्णिम आभा सृष्टि के कण कण में एक स्वर्गीय उल्लास भर देती है। समय की शाश्वत धारा में शक्ति की यह अनुपम लहर अनादि काल से जीव-मात्र को आह्लादित करती आ रही है। कवि की लेखनी, चित्रकार की तूलिका और गायक की वीणा को इसने सदा से स्पन्दित किया है। रात्रि की चिरनिद्रा के बाद ऐसा कौनसा प्राणी है जो स्फूर्तिमयी तथा कर्म की प्रेरक उषा का प्रसन्न मन से अभिनन्दन न करता हो। कर्म सृष्टि का आधार है। जाने या अनजाने प्रत्येक प्राणी कर्म की शृंखला में बन्धा है। कर्म आत्मा का भोजन है और उसका विकास तथा शान्ति कर्म पर ही निर्भर करते हैं। यही कारण है कि मानव-हृदय कर्ममयी उषा का स्वागत करता है। प्रभात की एक सुनहली किरण अन्धकार में सोई हुई शत-शत प्रेरणाओं को सजग करती है, उसका हल्का सा स्पर्श चेतन में तो क्या, जड़ में भी जीवन भर देता है।

जहां कर्म से सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है वहां अकर्मण्यता दुःख और अशान्ति की उत्पादिका है। अकर्मण्य प्राणी का जीवन समाज तथा राष्ट्र के लिए तो भार रूप है ही, वह अपने आप के लिए भी बोझ स्वरूप होता है। उसे न दिन को चैन मिलता है और न रात को सुख की नींद ही आती है। प्रायः हम आलसी लोगों को कहते सुनते हैं 'दिन नहीं कटता, नींद नहीं आती।' ऐसे

लोग दिन में दिल बहलाव के साधन खोजते हैं और रात की निद्रा के लिए डाक्टरों की शरण में जाते हैं। उनका खाली मन कुवासनाओं में उलझ कर उन्हें प्राय: अशान्त बनाता रहता है और दूसरे शारीरिक परिश्रम के अभाव में उन्हें अनेकों व्याधियां भी आ घेरती हैं किन्तु इस के प्रतिपक्ष में कर्मण्य व्यक्ति के लिए दिन और रात छोटे हो जाते हैं।

कर्म का अर्थ केवल शारीरिक श्रम ही नहीं, मानसिक चिन्तन भी कर्म का ही एक रूप है। वैज्ञानिक, कवि, चित्रकार आदि ऐसे व्यक्ति हैं जो अधिकतर निष्क्रिय बैठे हुए दिखाई देंगे किन्तु वस्तुतः यदि देखा जाये तो वे हर समय उठते-बैठते चलते-फिरते निरन्तर क्रियाशील होते हैं। उनकी शारीरिक क्रिया तो मानसिक क्रियाशीलता का एक छोटा सा मूर्तरूप होती है। ध्येय प्राप्ति के लिए चिन्तन-रत मन अनन्त शान्ति प्रदान करता है। गीता कर्मशील व्यक्ति को योगी और कर्म को योग की संज्ञा देती है। अभिप्राय यह कि कर्म की तन्मयता का आनन्द परमात्मा-प्राप्ति के आनन्द से ज़रा भी कम नहीं।

आत्म-विकास की इच्छा मानव में सब से प्रबल इच्छा है। किसी भी व्यक्ति को अपनी स्थिति में सन्तोष नहीं होता। वह जो है उससे बड़ा बनना चाहता है। किन्तु कर्म के बिना इस इच्छा की पूर्ति आकाश-कुसुम की तरह असम्भव है। यही कारण है कि प्रकृति ने आत्म-विकास की चाहना के साथ मानव मन में कर्म करने की एक अदम्य प्रवृत्ति भी भर दी है, और इस प्रवृत्ति के उपभोग के अभाव में वह सदा अशान्त तथा असन्तुष्ट रहता है। कलाकार, वैज्ञानिक, देशभक्त इसी प्रवृत्ति में जुटे प्राणियों के विभिन्न नाम हैं। इन व्यक्तियों ने अपने ध्येय की पूर्ति के लिए निरन्तर क्रियाशीलता से जिस अनन्त शान्ति को प्राप्त किया है उसे संसार की बड़ी से बड़ी यातनाएं भी भंग नहीं कर सकीं। विषैली नागिन की सी फांसी की डोरी, मृत्यु, विजय-पताका लहराती हुई आग की लपटें, प्रलय ढाती तोपें तथा आग उगलती बन्दूकें उन्हें एक क्षण के लिए भी कर्म से विरत नहीं कर सकीं। अपने देश तथा विदेश का इतिहास बताता है कि लाखों व्यक्तियों ने कर्म की ज्वलन्त आभा ले, दीपक की तरह स्वयं जल कर

संसार को प्रकाश दिया है। फ्रांस की महान् क्रान्ति के बाद वहां के प्रसिद्ध वैज्ञानिक एनटोनी लेवोजियर (Antoine Lavosier) को उसके सिर काटे जाने की सूचना मिली तो उसके मित्रों ने उसे चुपके से फ्रांस छोड़ देने का सुझाव दिया, इस पर अपनी असहमति प्रकट करते हुए उसने कहा था 'I have lived a useful life and I am ready.' मैंने बड़ा अच्छा जीवन व्यतीत किया है, अब मैं (मृत्यु के लिए) तैयार हूँ। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी मुस्कराते हुए कहा था—'प्रभो, तेरी इच्छा पूर्ण हो'। इससे स्पष्ट है कि निरन्तर कर्म करने वाले व्यक्तियों की अन्तरात्मा में शान्ति का ऐसा अक्षय भण्डार होता है जिसे मृत्यु भी नष्ट नहीं कर सकती। ऐसे व्यक्ति स्वयं तो शान्त रहते ही हैं, वे अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति की पीड़ाओं को भी हर लेते हैं। महात्मा गान्धी, महात्मा बुद्ध, महात्मा ईसा आदि ऐसी ही महान् विभूतियों में से हैं। संसार के महान् वैज्ञानिक, जिनकी क्रियाशीलता का फल हम लोग भोग रहे हैं और आने वाली संततियां भी युगों तक भोगती रहेंगी, अपने हृदय की अनश्वर शान्ति से नश्वर संसार के दुःखी मानवों में सुख आनन्द का प्रसार करते रहे हैं और सदा करते रहेंगे।

ध्यान रहे कर्म का शान्तिदायक होना उसके स्वरूप की अपेक्षा कर्ता की भावना पर निर्भर होता है। पेट में छुरा लगाना, डाक्टर तथा डाकू का कर्म स्वरूप में एक जैसा होने पर भी एक सा शान्तिदायक नहीं होता। डाकू का कर्म शान्ति के स्थान पर व्यक्ति को अत्यधिक भय तथा अशान्ति देता है। अतः स्पष्ट है कि शान्ति कर्म से तब मिलती है जब कर्म सद्भावना पर आधारित हो। स्वामी राम कहते हैं, मैं कर रहा हूं इस भाव को भूल जाइये। स्वामित्व की भावना जितनी कम होगी उतनी अधिक, कर्म से, शान्ति मिलेगी। स्वार्थ अर्थात् ममत्व अशान्ति का कारण है। कर्म केवल कर्त्तव्य समझ कर करना चाहिए। जब कर्ता सृष्टि की संचालक महान् शक्ति से अपनी शक्ति को मिला देता है तब उसे परिश्रम से श्रान्ति तथा असफलता से अशान्ति नहीं होती।

इसमें सन्देह नहीं कि कर्म की असफलता व्यक्ति को अशान्त

करती है, पर सफलता प्राप्ति का भी एक सिद्धोपाय है, वह है कर्ता का कर्ममय हो जाना। फल तो क्या, कर्ता जब अपने को भी भूल जाता है तभी सफलता मिलती है। स्वार्थोत्पन्न बेचैनी से ही काम खराब होता है। संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसे हम अपनी कहें, पर हम सब अपने अधिकार में आई वस्तु को अपनी कहते हैं और अभिप्रेत को पाने के लिए व्याकुल रहते हैं। यदि मिल जाए तो प्रसन्न, न मिले तो दुःखी; पर हम भूल जाते हैं कि ईश्वरीय सृष्टि में हमारी पृथक् कोई सत्ता नहीं। हम कर्ता नहीं, एक प्रकार के साधन हैं।

सर आइज़क न्यूटन के बारे में प्रसिद्ध है कि वह निरन्तर चिन्तनशील रहता था। उसने विज्ञान के क्षेत्र में एक नये युग को जन्म दिया, किन्तु आत्म-प्रशंसा के प्रति वह इतना विरक्त था कि उसने कभी अपनी पुस्तकों को प्रकाशित करवाने का प्रयत्न तक नहीं किया था। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए उसने लोगों की प्रशास्तियों का उत्तर देते हुए कहा था "मैं तो ज्ञान के विस्तीर्ण समुद्र के किनारे अभी तक कंकर बीनता रहा हूँ।" इसे कहते हैं कर्ममय होकर कर्म करना। ऐसे ही प्राणियों के लिए कर्म शान्तिदायक होता है।

सच तो यह है कि शान्ति के लिए कर्ता के हृदय में विश्वप्रेम की भावना का होना नितान्त आवश्यक है। संसार के प्रति भिन्नता का भाव मिटा देने पर ही व्यक्ति को कर्म से शान्ति मिलती है। पांव में कांटा चुभने पर हाथ अपने आप वहां पहुँच जाता है। पीड़ा से मुक्ति मिलने पर सम्पूर्ण शरीर स्वस्थता का अनुभव करता है। इसी प्रकार व्यक्ति जब निज को भूल कर प्रेम भाव से कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसे—फल तो बाद की वस्तु है—कर्म से ही अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है। जब व्यक्ति दूसरों का बुरा सोच कर कर्म करता है या उस के कर्म से दूसरे का अनिष्ट होगा

ऐसी सम्भावना उसे होती है, तब भय का एक मोटा पर्दा उस की आत्मा को ढांप लेता है। भयभीत व्यक्ति कभी शान्त नहीं रह सकता। गीता कहती है "अशान्तस्य कुतः सुखम्" अतः स्पष्ट है कि सुख के लिए मानसिक शान्ति परमावश्यक है। कर्म शान्ति का मूल स्रोत है यदि वह स्वार्थरहित लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर किया जाए।

काश्मीरी सन्त-कवि

—श्री चमन लाल सपरू

काश्मीरी साहित्य का काल-विभाजन करते समय जिसे हम आदि काल कहें उसे ही सन्त-साहित्य-काल नाम दिया जा सकता है। वास्तव में काश्मीरी साहित्य का आरम्भ सन्तों की सुमधुर बाणी से ही हुआ। इस के पीछे एक विशेष कारण है। १२वीं शताब्दी तक के ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि काश्मीर में हिन्दू राज्य होने के कारण संस्कृत को राज्याश्रय प्राप्त रहा और पण्डितों की भाषा भी वहीं रही। परन्तु जन-साधारण में एक नई भाषा का प्रचलन शुरू था, जो बाद में काश्मीरी कहलाई। काश्मीरी भाषा के प्रारम्भिक स्वरूप को देख कर उसमें और संस्कृत में अन्तर करना कठिन हो जाता है। प्रारम्भिक सन्त कवियों अथवा कवयित्रियों ने जिस पदावली का प्रयोग किया उस में भी संस्कृत के शब्द अधिक संख्या में मिलते हैं। काश्मीरी भाषा का जन्म और विकास दर असल मुसलमानों के आगमन के साथ हुआ। मुसलमानों के आगमन से जहां काश्मीर के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा वहां धार्मिक जीवन भी अछूता न रहा। नन्दन कानन काश्मीर में मुसलमानों के बड़े २ फकीरों और सूफियों का आगमन होता रहा। उन के उपदेशों में जो दार्शनिक तत्त्व होता था उस में यहां के निवासियों को साम्य दिखाई दिया। क्योंकि उनके यहां शैव धर्म पनपा था। उन की

रग-रग में उत्पलदेव और अभिनवगुप्त जैसी विभूतियों का दर्शन और सिद्धान्त दौरा कर रहा था।

काश्मीरी साहित्य की कई मुख्य समस्याओं में इस समस्या के एक प्रामाणिक इतिहास का अभाव है। इस क्षेत्र में अभी तक कुछ भी प्रयास नहीं हुआ था। अभी हाल ही में साहित्य एकेडमी ने यह कार्य प्रिंसिपल जिया लाल कौल को सौंपा है और स्वतन्त्र रूप से श्री पी. एन. 'पुष्प' इस कार्य में लगे हैं। प्राचीन कवियों की रचनाओं के बारे में पता लगाना और उन के समय आदि के निर्णय का काम बड़ा टेढ़ा है। इन साहित्यकारों के बारे में कुछ बताने के लिये केवल मात्र उन की रचनाएं और जन-श्रुतियां ही मुख्य आधार हैं।

काश्मीरी कविता का प्रधान भाव रहस्यवाद रहा है। १३-१४वीं शताब्दी के शिति श्रीकण्ठ के 'महानय प्रकाश' और लल्लेश्वरी के 'वाखों' से लेकर, जब से काश्मीरी साहित्य का प्रारम्भ हुआ 'मास्टर जी' (जिन्दा कौल) तक हम ने अनेक सन्त कवियों को पैदा किया। इन में मुसलमान भी हैं और हिन्दू भी। मुसलमान कवियों पर सूफीवाद, तथा मौलाना रूमी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है और हिन्दू कवियों पर वेदान्त और शैव दर्शन की स्पष्ट छाप है। काश्मीरी सन्त कवियों में लल्लद्यद, नुन्द ऋषि, ख्वाजा हबीबुल्लाह नौशहरवी, रूप भवानी, कलन्दर शाह, अब्दुलअहद नाजिम, परमानन्द, शमस फकीर, अजीज दरवेश, वाहबखार, मिर्जा काक, कृष्ण राजदान, लछकाक, मोहीउद्दीन मिस्कीन, ख्वाजा अकस, रहमान डार, अहद जरगर, लक्ष्मणजू 'बुलबुल', ठाकुरजू मनवूट, हलधरजू कोकरू, दयाराम, नील कण्ठ शर्मा, जिन्दा कौल 'मास्टर जी' आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। बहुत से कवियों के नाम अज्ञात हैं और बहुत से सन्त कवियों के नाम बहुत कम जानते हैं।

लल्लेश्वरी को काश्मीरी भाषा की आदि कवयित्री और जननी माना जाता है। नन्दन कानन काश्मीर को, लल्लेश्वरी पर जिस को प्रेम से 'लल्लद्यद' भी कहा जाता है, गर्व है। लल्ला ने जिन आदर्शों का प्रतिपादन १४वीं शताब्दी में किया उन्हीं को आगे रख

कर काश्मीर इस समय भी संसार में प्रसिद्ध है। धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त की चर्चा जो आज हम सर्वत्र देखते हैं, उस बात को अपनी बाणी में लल्लेश्वरी ने आज से कई सौ वर्ष पूर्व कहा था। लल्लेश्वरी का सिद्धान्त शैव दर्शन की ही, एक प्रकार से, काश्मीरी भाषा में व्याख्या है। उन का जन्म केसर पैदा करने वाले प्रसिद्ध ग्राम पाम्पुर (पद्मपुर) में १३६० ई० में हुआ था। यह काल काश्मीर के इतिहास में संक्रान्ति काल था।

शैव दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य उत्पल देव (९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध) ने कहा है :—

ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान् पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः।
मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते, मानिता त्वदनुरागिणः॥

अद्वैत की इसी भावना को लल्लेश्वरी ने निम्नलिखित पद्यांश में प्रस्तुत किया है :—

गगन चय भूतल चय द्यन पवन त राथ।
अर्ध चन्दुन पोष पोन्य चय चय सकलय तै लोगि जिय क्याह॥

कश्मीर के प्रसिद्ध हिन्दी-कवि श्री शशि शेखर ने इस का भावानुवाद यूं किया है :

देव फिर पूजा कैसी आज ?
तू ही पवन, गगन भूतल तू, तू ही दिन, तू ही रात।
तू ही पवन अर्घ्य-पुष्प जल चन्दन, सब कुछ तू ही तात।
व्यर्थ आरती ! व्यर्थ अर्चना की यह भ्रम मय बात।
व्यर्थ यह पूजा के सब साज।
देव फिर पूजा कैसी आज ?

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि शैव दर्शन की गहरी छाप हमारे इन सन्त कवियों (विशेषकर हिन्दुओं) पर पड़ी है।

लल्लेश्वरी अपने युग की प्रतिनिधि कवयित्री थीं। सन्त कवियों में हमारे यहां उन का नाम बड़े आदर से लिया जाता है।

लल्लेश्वरी को प्रायः लल्लद्यद (माता लल्ल) के नाम से काश्मीरी याद करते हैं। मुसलमानों के आगमन के बाद काश्मीर में उत्पन्न हुए विषाक्त वातावरण को यदि उस समय शुद्ध करने में कोई समर्थ था तो वह था 'लल्ला' का अद्वितीय व्यक्तित्व। उन का साहित्यिक परिचय देने के लिये एक अलग लेख की आवश्यकता है। कुछ लोग भ्रमवश उन की तुलना हिन्दी साहित्य की मीरा के साथ करते हैं। वास्तव में उनकी टक्कर का यदि हिन्दी साहित्य में हमें कोई कवि मिलता है तो वह है सन्त कबीर।

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।" ......कबीर

लगभग इसी बात को 'लल्ला' ने इन शब्दों में कहा है:—

अन्दर ति म्यचय न्यबरति म्यचय।
म्यचे त पानस द्युनुम छोह॥

अर्थात् भीतर भी मिट्टी और बाहिर भी मिट्टी, मिट्टी और अपने आप को मैंने एक पाया। इस का दूसरा अर्थ यह भी निकलता है कि अन्दर भी तू ही है, बाहर भी तू ही। मैंने अपने को और तुम्हें (ईश्वर को) एक कर दिया।

सन्तों की प्रायः यह भी एक विशेषता रही है कि उन्होंने रूढ़ियों और अज्ञान की खूब खबर ली है। कबीर की ऐसी अनेक उक्तियों से हम परिचित हैं। लल्लेश्वरी का एक पद्यांश प्रस्तुत है :—

"अठ्यचारी छि पोथ्यन छि हब मालि परान।
यिथ तोन वरान छु राम पिंजरस॥"

हिन्दी भावानुवाद—

"पोथी पर पोथी रटते, कोरे के कोरे।
ये पण्डित, ये अविचारी, कुछ ज्ञान न इन में गढ़ता।
राम नाम का पाठ कि ज्यों पिंजड़े का तोता पढ़ता।"
.......(शशि शेखर)

कबीर की निम्न पंक्तियों से उपर्युक्त पंक्तियां कितना साम्य रखतीं हैं, देखिए—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।"

मीरा की भान्ति लल्लेश्वरी का भी गार्हस्थ्य जीवन प्रतिकूल था। सास इसे तंग करती थी और पति सताया करता था। आजकल तो काश्मीरी में यदि किसी सती साध्वी की प्रशंसा करनी हो तो कहा जाता है वह तो 'लल्लछद' है।

लल्लेश्वरी की रचनाएं चार-चार पंक्तियों के पदों में प्राप्य हैं जिन्हें काश्मीरी में बाख (वाक्य) कहते हैं। इन के बाखों का संग्रह श्री आर. सी. टेम्पुल, ग्रियर्सन, पंडित आनन्द कौल बम्ज़ई तथा ट्रस्ट पब्लिशिंग हाऊस ने किया है।

लल्लेश्वरी के समकालीन परन्तु आयु में काफी छोटे नुन्द ऋषि आते हैं। नुन्द ऋषि अथवा सहजा नन्द (अथवा नूरुद्दीन जैसा कि नोर मुहम्मद हमदानी उन का बाद में नाम रखा है) का जन्म बिजविहारा ग्राम के पास कंमूह में ईद-उ-जुहा के दिन ७७६हि० (१३७७ ई०) को हुआ था। इन की समाधि चारगांव में है। नुन्द ऋषि के पिता का नाम सालार संज था जिस के पूर्वज हिन्दू थे और किश्तवाड़ के शासक थे। बाद में इन के किसी वंशज ने काश्मीर में आ कर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था। इन की बाणी में भी, जहां सूफी सिद्धान्त का स्पष्ट रूप दिखाई देता था वहां कहीं कहीं यह भी शैव दर्शन से प्रभावित हुए दिखाई देते हैं। इन के 'बाखों' को 'नूर नामा' अथवा 'ऋषि नामा' में संग्रहीत किया गया है। इन के कई पदों को नीति-पद कहा जा सकता है। उन में आपने शिष्यों को उपदेश दिया है। आप का एक बख इस प्रकार है:

आशक सुय यस अश्क सत्य दजे।
सोंन जन प्रजलेस पननुय पान॥
अशकुन नार यस वाँलिजि सजे।
अदि मालि वानिय सुय ला मकान॥

अर्थात् :—

प्रेम वही है जो प्रेम में जले ।
जिसका आत्मा स्वर्णवत् प्रज्वलित हो ।।

जब मनुष्य के दिल में प्रेम-ज्वाल प्रदीप्त हो तभी वह अनन्त परमेश्वर में विलीन हो सकता है ।

लल्ला की परम्परा में 'रूप भवानी' का नाम भी आता है। इन का जन्म काश्मीर के प्रसिद्ध धर वंश में हुआ था। इन के वंशज बड़े रसज्ञ माने जाते थे । इन का पारिवारिक जीवन आरम्भ से ही प्रतिकूल रहा । अन्त में अपने पिता माधव धर (जो कि एक महात्मा थे) के पास जा कर शिक्षा ग्रहण की। अन्त में आप भी उच्च कोटि की सिद्ध योगिनि बनीं । 'वासु कुर' नामक गांव इन का साधना-स्थल रहा है। तपस्या के अनन्तर अपने भक्तों को उपदेश सुनातीं तथा साधना के मार्ग में पथ प्रदर्शन करती थीं। इन के नाम से एक ट्रस्ट का निर्माण हुआ है। वह इन के उपदेशों और वाखों का संग्रह कर रहा है। अपने पदों में 'रूप भवानी' ने शिव के बाद लल्लेश्वरी और पिता माधव धर को नमस्कार किया है। इन के जीवन का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि अधिकांश काश्मीरी पण्डित इन के श्राद्ध-दिवस (माघ शुक्ल सप्तमी) को व्रत रखते हैं।

परमानन्द (नन्द राम) १७६०-१८८० ई० का नाम सन्त कवियों में लल्लेश्वरी के बाद लिया जाता है। मास्टर जिन्द कौल ने 'परमानन्द' (दो भाग) नामक अंग्रेजी पुस्तक में इन के बारे में लिखा है—'परमानन्द सहज ही अपने पूर्व कालीन कवियों में, शैली, छन्द आदि की विशेषता के कारण अग्रणी हैं। केवल रहस्यवाद में वे लल्ला की समता नहीं कर सके है।' 'शिव लग्न' 'सुदामा चरित्र' 'राधा स्वयंवर' आदि आप की बड़ी प्रसिद्ध कृतियां हैं। आप पर वेदान्त का काफी प्रभाव था। उस का मुख्य कारण यह है कि उन का गांव मटन (मार्तण्ड) एक बड़ा भारी तीर्थ है, जो स्वामी अमरनाथ की यात्रा के मार्ग में पड़ता है। वहां पर प्रति

वर्ष भारत के कोने कोने से अनेक साधु महात्मा आते रहते हैं। उन के सत्संग से वे वेदान्त से प्रभावित हुए। आप पहले काश्मीरी कवि हैं—जिन्होंने हिन्दी में भी पद्य-रचना की है।

इन की एक प्रसिद्ध कविता 'लीला-इ-जमींदारी' में मनुष्य के शरीर की खेत के साथ तुलना की गई है और सन्तोष का बीज बो कर आनन्द के फल की प्राप्ति कैसे होती है—यह वर्णन किया गया है। इस कविता में 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त की भी व्याख्या की गई है।

'सोछ काल' एक मुसलमान वेदान्ती हुए हैं। वेदान्ती! यह सुन कर आश्चर्य सा होता है। पं० नील कण्ठ शर्मा जो कि वर्तमान समय के एक प्रसिद्ध भक्त कवि हैं, उन्होंने मुझे सोछ काल के अनेक ऐसे पद सुनाए जो एक प्रकार से वेदान्त सूत्रों की व्याख्या ही हैं। आप एक जगह लिखते हैं:—

"पननी बेवि ह्यतो बोय।
अदनो योय दुर्यर छुय।"

अर्थात् अपने गिरेबान में मुंह डालो तब किञ्चिन्मात्र भी वियोग नहीं है।

इसी प्रकार 'शमस फकीर' भी एक प्रसिद्ध सूफी सन्त कवि हुए हैं। उन की एक पंक्ति है:

"हा शाह सवारो कोर गच्छक।
आखर चे मरोन छुय।"

अर्थात् अरे ओ शाहसवार कहां जा रहे हो? अन्त में तुम्हें मरना है। वे इह संसार को असार मानते हैं।

बीसवीं शताब्दी के सन्त कवियों में 'अहद जरगर' (नर्रवर निवासी) का नाम भी बड़ा प्रसिद्ध है। इन की कविताओं को पढ़ कर आश्चर्य होता है कि इन को हिन्दू धार्मिक कथाओं और सिद्धान्तों का कैसा विशद ज्ञान था, हिन्दुओं के इस सिद्धान्त को—कि

विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ, कमल से ब्रह्मा और ब्रह्मा ने सृष्टि का निर्माण किया। इसी आशय को इस पंक्ति में व्यक्त किया है :—

"पम्पोश मंज़ गब पैद काहनात।"

(कमल से सृष्टि का निर्माण हुआ है)।

एक और स्थान पर लिखते हैं :—

युस मेलि हेरि बोन सत्य जहूरस,
सुह बनि नन्य पान्य अन-अल-हक।
राह किथ खोल है शेख मन्सूरस,
बु करै नूरस हो तै हो।

अर्थात् जो पूर्ण रूप से परमात्मा के साथ मिल गया हो, वही निडर हो कर अन-अल-हक (अहं ब्रह्मास्मि) कह सकता है। शेख मन्सूर पर कौन सा दोष लागाया गया, मैं तो नूर की उपासना करूंगा।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पं० ठाकुरजू मनबूट भी एक सन्त कवि हो गुज़रे हैं। वे वेदान्त का ही प्रचार अपनी कविता में करते थे। उन की भाषा संस्कृत-गर्भित है। उन के एक पद का भाव यूं है :

मुझे अविद्या के दोष ने खोया हुआ सा कर दिया।
भ्रम से मैं पंच कोष के अधीन हो गया।
पंच कोषों से भी परे हे निरंजन रक्षा करो।

मूल पद इस तरह है :

व्यसमृत कोरनस अविद्या दूषण।
भ्रम किन्य शरण सपनुम पंच कोषन।
पंच कूषतीन निरंजनै।
नारायणै........।

हलधर जु कोकरू इन के शिष्य थे और बुध मूला (सांपोट) में इन का आश्रम था। आप भी एक अच्छे सन्त कवि माने जाते हैं।

आज के सन्त कवियों में पं० नील कण्ठ शर्मा तथा मास्टर जी का नाम उल्लेखनीय है।

पं० नील कण्ठ शर्मा शादी पोट गांव के पास डब के रहने वाले हैं। आप का जन्म १८६२ ई० में हुआ। इन के ग्रन्थों में प्रसिद्ध 'श्री मद् रामायण शर्मा' है। 'श्रद्धाञ्जली' इन की लगभग १५० कविताओं का संग्रह है। आप शंकराचार्य के अद्वैतवाद से स्पष्ट रूप से प्रभावित हैं। ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस भाव को एक जगह आप यूं समझाते हैं:

"करन दशहार जीव प्राक्ख ज्ञान।
स्वरत पान त्राव तो दीट अबिमान।
ज्ञान छुय मुक्ति हुन्द कारन।
व्युथ अगन छुह पाकुक प्रत्यख सादन।
ज्ञान रोस्त कांह छुन मूख्य प्रावान।"

(हे जीव दशहार कर। आत्मा को पहचानो और देह का अभिमान छोड़ो। ज्ञान ही मुक्ति का कारण है, जिसे अग्नि (तप) ही परिपक्व कर देता है। ज्ञान बिना कोई मोक्ष प्राप्त नहीं करता है)।

एक और जगह लिखते हैं:

"छ्यन पन च्येय निश गोश तन रोवुस।
गटि फिरनो वुय परदीशन।"

अर्थात् जब से परमात्मा से वियोग हुआ—तब से खो गया हूँ, अन्धकार ने मुझे भूल भुलइयों में भटकाया।

'मास्टर जी' (पं० जिन्दा कौल) रहस्यवादी कवियों में अग्रणी हैं। आकाश वाणी द्वारा आयोजित कवि-सम्मेलन में २५ जनवरी १६५८

को जो कविता आप ने सुनाई, उस का अनुवाद बच्चन जी ने हिन्दी में किया है। उन्हीं की कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत की जाती हैं :

"प्रेम परमेश्वर"

"तुम्हारी शक्ति का, प्रियतम, नहीं मैं जानता दूजा।
हृदय मन्दिर की तुम प्रतिमा बनो तो मैं करूं पूजा।

× × × × ×

हुआ गंदला धर्म का नीर मत पंथों की धारों में,
मुझे पीने दो वह जल, जो नहीं बंधता किनारों में।
मैं हर ज़र्रे में देखूं खुद को, सब में एक को पाऊं,
दुई रहने न पाये मैं कुछ ऐसा तुम में मिल जाऊं।

मास्टर जी का जन्म १८८० ई० में श्रीनगर में हुआ। आप की प्रसिद्ध पुस्तक 'स्मरण' पर साहित्य एकेडमी ने ५००० रु० का पुरस्कार इन्हें दिया है। आप भी शंकर के वेदान्त से प्रभावित हैं।

इस लेख में संक्षेप में ही मुख्य सन्त कवियों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। अन्य कवियों के बारे में विस्तार से जानने के लिये काफी अनुसन्धान की आवश्यकता है।

['साहित्य-सन्देश' (आगरा) से
साभार उद्धृत]

लेखक-परिचय

(१) सत्यवती मल्लिक (१९०६—)

जन्म-स्थान : श्रीनगर (कश्मीर)

वर्तमान निवास स्थान—५/९० कनाट सरकस, नई दिल्ली

व्यवसाय : लेखन

श्री सत्यवती मल्लिक की गणना हिन्दी की प्रमुख लेखिकाओं में होती है। आप 'दीपक', 'दिन रात', 'वैशाख की रात', 'अमिट रेखाएं', 'कश्मीर की सैर', 'अमर पथ' आदि कई पुस्तकों की रचयिता हैं। 'अमर पथ' और 'दिन रात' उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हैं। प्रस्तुत संग्रह में संकलित रचना 'वंशी और चिट्ठी' में यद्यपि वंशी और चिट्ठी में परस्पर कोई सम्बंध नहीं, फिर भी लेखिका ने अपनी भावुकता तथा कल्पना द्वारा बीच का सूत्र ढूंढ निकाला है, और उन्हें दो वियोगी हृदयों का प्रतीक बना दिया है।

(२) धर्म चन्द्र प्रशांत (१९१७—)

व्यवसाय : पत्र-कारिता

पता : पक्का डंगा, जम्मू

'प्रशांत' जी जम्मू के जाने माने लेखक हैं। हिन्दी तथा डोगरी दोनों भाषाओं में लिखते हैं। कहानी, एकांकी, लेख तथा उपन्यास—साहित्य की विविध विधाओं में आप की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। संकलित कहानी 'मालिन' से शैली और भाषा की सरलता, तथा प्रौढ़ता एक साथ दृष्टिगोचर होतीं हैं।

(३) मोहन कृष्ण दर (१६३१—)

व्यवसाय : पत्र कारिता
जन्म स्थान : नरपिरस्तान, श्रीनगर (कश्मीर)
वर्तमान पता : ४-मुहल्ला मैंनशन, पहाड़ गंज लेन, नई दिल्ली।

श्री दर एक सुलझे हुए कहानीकार हैं। आप की कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिन में 'मनोरम कश्मीर', 'केसर के फूल', 'चिनार के पत्ते' आदि प्रमुख हैं। संकलित कहानी 'घास का माया जाल' एक भारतीय सैनिक के दुःखांत जीवन का चित्र उपस्थित करती है।

(४) दीपक कौल (१६३२—)

व्यवसाय : सरकारी नौकरी (इंडस्ट्रीज़ विभाग)
पता : महाराजा गंज, श्रीनगर।

श्री दीपक कौल कश्मीर के युवा लेखकों में महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू और कश्मीरी में भी कहानियां लिखते हैं। कहानियों के अतिरिक्त आप एकांकी आदि भी लिखते हैं। संकलित कहानी 'गोपी' में आप ने एक प्रमुख सामाजिक बुराई को हमारे सामने पेश किया है। समस्या का समाधान भले ही इस में नहीं, फिर भी कहानी अपने में पूर्ण है। आवश्यक भी नहीं कि समस्या का समाधीन कहानी में ही हो।

(५) वेद राही (१६३३—)

जन्म : मई १६३३
व्यवसाय : लेखन
स्थाई पता : दरबार गढ़ रोड जम्मू।

श्री राही हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू और डोगरी में भी कहानियां, कविताएं आदि लिखते हैं। आप श्रीनगर से प्रकाशित होने वाले सरकारी मासिक 'योजना' के सम्पादक रहे हैं।

आज कल सरकारी नौकरी छोड़ कर लेखक के रूप में काम करने के लिए बम्बई चले गए हैं। कहानी 'पानी और पत्थर' में आप ने समाज के दो वर्गों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है।

(६) हरि कृष्ण कौल (१९३४—)

व्यवसाय : सरकारी नौकरी
स्थाई पता : काठलेश्वर, जैनदार मुहल्ला, श्रीनगर।

श्री हरि कृष्ण कौल एक मध्यवर्गीय कश्मीरी पण्डित घराने से सम्बन्ध रखते हैं। इन की कहानियों का क्षेत्र अपने वर्ग की सीमाओं से घिरा हुआ है, परन्तु उस में साहित्यिक-दृष्टि काफी व्यापक है। 'यक्ष और टोपी' इन की प्रतिनिधि कहानियों में से है। वातावरण की घुटन, पात्रों की विवशता और कुण्ठित जीवन की अकुलाहट मानो कहानी के सांचे में ढल कर मुखर हो उठी हैं।

(७) जवाहर लाल कौल (१९३७—)

व्यवसाय : अध्यापन
स्थाई पता : सफा पुर, सोना बारी, कश्मीर।

कश्मीर के तरुण कहानी कार श्री जवाहर लाल कौल कश्मीर की साहित्यिक गति-विधियों में विशेष भाग लेते हैं। इनकी 'डोलमा' में लद्दाख की झलक देखने योग्य है। कहानी को यदि आंचलिकता के तत्व ने गढ़ा है तो अनुभूति की सार्वभौमिकता ने इस में प्राणों का संचार किया है।

(८) रत्न लाल 'शान्त' (१९३८—)

व्यावसाय : अध्यापन (कालेज में)
स्थाई पता : ५५, वडयारबाला, हबा कदल, श्रीनगर।

श्री रत्नलाल शान्त उदीयमान कहानीकार, कवि और निबंध लेखक हैं। भाषा-विज्ञान में भी इन की अभिरुचि है। इन की 'नन्हीं' कहानी में दो बहिनों को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और चित्रण

खूब हुआ है । वातावरण की ओर इस में विशेष ध्यान दिया गया है ।

(९) गोपी नाथ कौशिक(१९१६—)

व्यवसाय : सरकारी नौकरी (प्रसार विभाग में)

स्थाई पता : मुहल्ला पठानां, जम्मू ।

श्री कौशिक कहानियां भी लिखते हैं, कविताएं भी और एकांकी भी । इन्होंने छोटी अवस्था में ही लिखना शुरू किया था । एक मात्र कश्मीरी हैं जो डोगरी में भी लिखते हैं । संकलित 'नयनाहुति' एक रेडियो एकांकी है ।

(१०) सुश्री शक्ति शर्मा (१९२५—)

व्यवसाय : अध्यापन (कालेज में)

पता : जुलाहका मुहल्ला, जम्मू ।

हिन्दी तथा डोगरी की लेखिका हैं । रियासत में हिन्दी के प्रसार में आप का प्रारम्भ से ही सहयोग रहा है ।

(११) घनश्याम सेठी (१९३४—)

व्यवसाय : व्यापार

पता : द्वारा, सेठी ब्रदर्स, अमीरा कदल श्रीनगर ।

श्री सेठी कहानियां भी लिखते हैं और लेख भी । हिन्दी की विविध पत्रिकाओं में आप की रचनाएं प्रकाशित होती रहती हैं । 'नगरी-नगरी फिरा मुसाफिर' नामक (प्रकाशित) पुस्तक में आप ने अपनी विदेश यात्राओं के संस्मरण एकत्रित किए हैं । संकलित 'डेज़र्ट बस में', उसी से उद्धृत है । मरुभूमि तथा मरुभूमि की यात्रा जितनी शुष्क होती है लेखक ने उसे उतना ही सरस तथा मधुर बना दिया है ।

(१२) रमाकान्त भारद्वाज (१६००—)

व्यवसाय : अवकाश-प्राप्त अध्यापक, चिकित्सक।
पता : पीरमिट्ठा, जम्मू।

श्री भारद्वाज अंग्रेजी, संस्कृत तथा आयुर्वेद के विद्वान् हैं। हिन्दी में कम ही लिखते हैं, मगर हिन्दी भाषा पर इन्हें पूर्ण अधिकार है। संकलित लेख में इन्होंने 'इतिहासकार कल्हण' पर संक्षेप से समीचीन प्रकाश डाला है।

(१३) विष्णु दत्त शास्त्री (१६१०—)

व्यवसाय : अध्यापन (कालेज में)
पता : कठुआ, जम्मू।

डा० विष्णु दत्त शास्त्री संस्कृत तथा हिन्दी के विद्वान् हैं। 'मालिनी विजय तंत्र' पर शोधकार्य करके आप ने पी. एच. डी. प्राप्त किया है। हिन्दी में कभी कभार ही लिखा है, परन्तु जो कुछ लिखा है अत्यन्त प्रबुद्ध, सरस और सुबोध लिखा है।

कश्मीर के शैव दर्शन पर इन का प्रस्तुत संक्षिप्त लेख पढ़ने से पता चलता है कि लेखक ने जो कुछ कहना चाहा है, सुचारु ढंग से कह दिया है।

(१४) रामनाथ शास्त्री (१६१४—)

व्यवसाय : अध्यापन (कालेज में)
पता : हवेली बेगम, (कर्ण नगर) जम्मू।

शास्त्री जी संस्कृत और हिन्दी के प्रकांड पण्डित हैं, और डोगरी के श्रेष्ठ कवि तथा गद्य-लेखक। हिन्दी में आप ने आज तक जितना भी लिखा है, भाषा तथा भाव दोनों दृष्टियों से परिपक्व लिखा है। जम्मू प्रदेश के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में आप की साधना और आप की लगन अभूत पूर्व हैं। इस विषय के आप अधिकारी लेखक हैं जैसा कि संकलित 'डुग्गर प्रदेश का कलात्मक जीवन' से भली भान्ति स्पष्ट है।

(१५) पृथ्वी नाथ पुष्प (१६१७—)

व्यवसाय : सरकारी नौकरी (रिसर्च विभाग में)

स्थाई पता : गुगजी बाग, श्रीनगर।

कश्मीरी भाषा, साहित्य और संस्कृति के अतिरिक्त आलोचना में इन की विशेष रुचि है। संकलित लेख में इन्होंने श्री शिवदान सिंह चौहान के समालोचीय कृतित्व पर आलोचनात्मक प्रकाश डाला है। हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी, उर्दू और कश्मीरी में भी लिखते हैं।

(१६) शकुन्तला सेठ (१६१४—)

व्यवसाय : अध्यापन (विद्या पीठ जम्मू)

पता : महिला विद्या पीठ, जम्मू।

सुश्री शकुन्तला सेठ जम्मू-कश्मीर की हिन्दी लेखिकाओं में अग्रणीया मानी जाती हैं। लेखों के अतिरिक्त आप कविताएं भी लिखतीं हैं। इस अहिन्दी प्रदेश में आप ने हिन्दी के प्रचार में सक्रिय भाग लिया है। विद्या पीठ जम्मू की आचार्या के रूप में आप ने हिन्दी पठन-पाठन को सराहनीय प्रगति दी है।

(१७) चमन लाल सपरू (१६३५—)

व्यवसाय : अध्यापन (कालेज में)

पता : पुरुषयार हवाकदल, श्रीनगर।

श्री सपरू राज्य के मेधावी युवा लेखक हैं। कश्मीर में हिन्दी के प्रचारार्थ आप ने प्रशंसनीय काम किया है। विभिन्न पत्रिकाओं तथा पुस्तिकाओं का आप ने सम्पादन किया है। हिन्दी में कश्मीरी भाषा के साहित्यकारों के सम्बन्ध में आप ने कई लेख लिखे हैं। संकलित लेख 'कश्मीरी संत कवि' उन्हीं में से एक है।